मैथिली कथा-संग्रह 'जीवनदान' का हिंदी अनुवाद

जीवनदान

JEEVANDAN

मूल लेखकः

जगदीश प्रसाद मण्डल

हिंदी अनुवादः

जगदानन्द झा 'मनु'

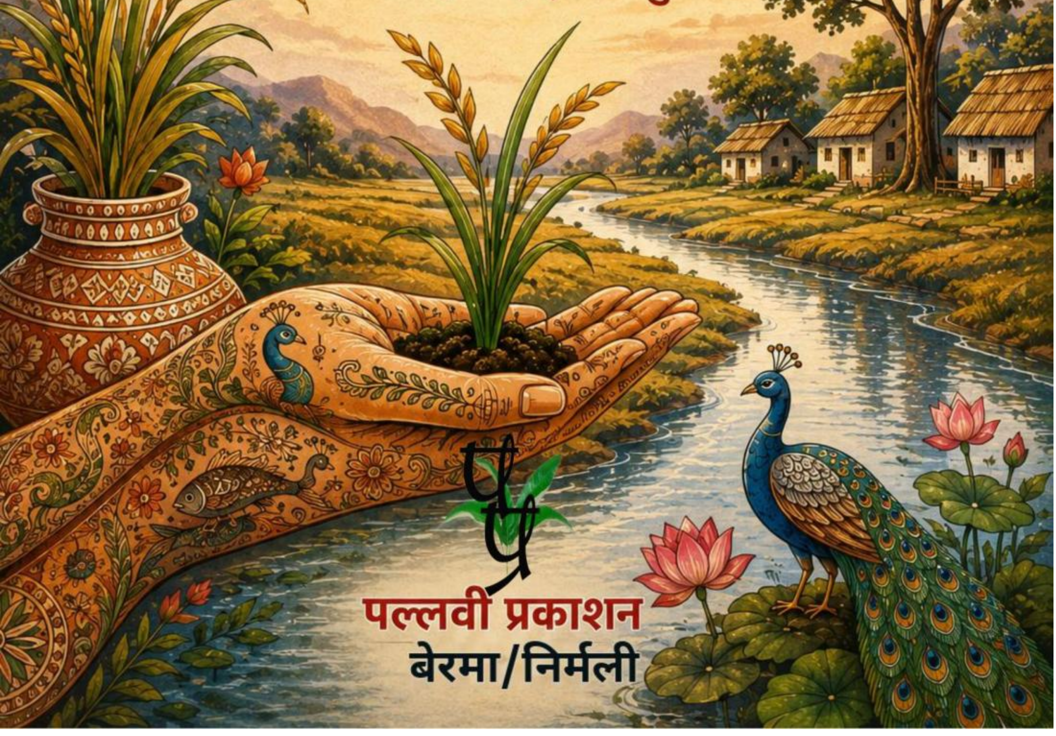

पल्लवी प्रकाशन

बेरमा/निर्मली

जगदीश प्रसाद मण्डल

श्री जगदीश प्रसाद मण्डल बिहार राज्य के मधुबनी ज़िले के 'बेरमा' गाँव के निवासी हैं। उनका जन्म 05 जुलाई 1947 ईस्वी को हुआ। दो विषयों में एम.ए. करने के उपरान्त उन्होंने जीविकोपार्जन के लिए कृषि कार्य, विशेषकर सब्ज़ी की खेती को अपनाया और अपने गाँव–समाज के साथ जुड़कर सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत किया। गाँव और समाज में प्रचलित रूढ़ियों, शोषण और सामंती व्यवहार ने उन्हें गहराई से व्यथित किया। इसके विरोध में वे समाज के साथ खड़े होकर संघर्षरत हुए। इस संघर्ष–यात्रा के दौरान वे अनेक गोष्ठियों एवं संगोष्ठियों में सक्रिय रहे, मुकदमों का सामना किया और कई बार जेल भी गए। लगभग पैंतीस वर्षों तक निरन्तर समाज सेवा में संलग्न रहने के बाद सन् 2000 के पश्चात उन्होंने साहित्य सृजन की राह पकड़ी। तब से उनका लेखन मैथिली साहित्य को नई ऊर्जा, नवीन दृष्टि और सार्थक दिशा प्रदान कर रहा है। आज उनका सतत और प्रखर सृजन अपनी विशिष्टता और वैचारिक गहराई के साथ साहित्य जगत में उल्लेखनीय उपलब्धि सिद्ध हो चुका है। मण्डल जी अपनी सकारात्मक सोच, सहज स्वभाव, नवीन दृष्टि और जनोन्मुख दृष्टिकोण के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। उनके साहित्य में ग्राम्य जीवन का यथार्थ, मानवीय संवेदना और संघर्ष की छाप स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। उन्हें अनेक प्रतिष्ठित पुरस्कार प्राप्त हुए हैं, जिनमें प्रमुख हैं– साहित्य अकादेमी पुरस्कार, टैगोर साहित्य पुरस्कार, अमर शहीद रामफल मंडल राष्ट्रीय पुरस्कार और यात्री चेतना पुरस्कार। इसके अतिरिक्त वे अनेक विशिष्ट सम्मानों से भी अलंकृत किए गए हैं, जैसे– विदेह सम्मान, राजकमल चौधरी साहित्य सम्मान, आदि। इन सम्मानों ने उनके सृजन की प्रासंगिकता और साहित्यिक प्रतिष्ठा को और अधिक ऊँचाई प्रदान की है।

जगदानन्द झा 'मनु'

जगदानन्द झा 'मनु' समकालीन मैथिली साहित्य के सक्रिय, संवेदनशील और बहुआयामी रचनाकार हैं। उनका जन्म 13 नवंबर 1973 को मधुबनी जिले के हरिपुर डीहटोल गाँव में हुआ। उनके पिता स्वर्गीय राज कुमार झा तथा माता श्रीमती मंजू देवी हैं। उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से बिजनेस में स्नातक की उपाधि प्राप्त की तथा इलेक्ट्रॉनिक्स और कंप्यूटर हार्डवेयर में डिप्लोमा किया। व्यावसायिक जीवन में वे प्रोफेशनल नेटवर्कर और बिजनेस लीडर के रूप में सक्रिय हैं। वर्तमान में वे ग्रेटर नोएडा, दिल्ली-एनसीआर में निवास करते हैं।

जगदानन्द झा 'मनु' का साहित्यिक व्यक्तित्व रचनात्मक विविधता, लोक-संवेदना और भाषिक सजगता से निर्मित है। बाल साहित्य, बीहनि कथा, गजल, कविता, गीत, हाइकू और अनुवाद जैसी अनेक विधाओं में उनकी सार्थक उपस्थिति रही है। उनकी प्रकाशित कृतियों में 'चोनहा' बाल उपन्यास (2012), 'तोहर कतेक रंग' बीहनि कथा-संग्रह (2021), 'नढ़िया भुकैए हमर घराड़ीपर' बहरयुक्त गजल-संग्रह (2022), 'व्यथा' कविता और गीत-संग्रह (2025), 'आखर आँखि' हाइकू-संग्रह (2026) तथा 'जीवनदान' अनूदित कथा-संग्रह (2026) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन कृतियों से उनकी सृजनशीलता, सामाजिक दृष्टि, लोकानुभव और मातृभाषा के प्रति आत्मीय लगाव स्पष्ट रूप से सामने आता है।

उनकी रचनाओं में जीवन के सहज अनुभव, मानवीय संबंधों की ऊष्मा, लोक-संस्कृति की गंध और सामाजिक यथार्थ की संवेदनशील पहचान मिलती है। वे साहित्य को केवल भाव-प्रकटीकरण का माध्यम नहीं मानते, बल्कि उसे जीवन, समाज और मनुष्य की आंतरिक चेतना से जोड़कर देखते हैं। 'जीवनदान' के माध्यम से उन्होंने श्री जगदीश प्रसाद मण्डल के महत्त्वपूर्ण मैथिली कथा-संसार को हिंदी पाठकों तक पहुँचाने का प्रशंसनीय कार्य किया है। इस अनुवाद में मूल कथाओं की आत्मा, ग्रामीण जीवन की गरिमा, लोकभाषिक संवेदना और मानवीय करुणा को सुरक्षित रखने का सजग प्रयास दिखाई देता है।

पल्लवी प्रकाशन
नेहरू मार्ग, तुलसी भवन, निर्मली,
जिला- सुपौल, बिहार: 847452

Rs. 299/-

ISBN: 978-93-48865-37-3
9789348865373

जीवनदान (कहानी संग्रह) जगदीश प्रसाद मण्डल मैथिली से हिंदी में अनुवाद जगदानन्द झा 'मनु'

जीवनदान

जगदीश प्रसाद मण्डल

हिंदी अनुवाद

जगदानन्द झा 'मनु'

पल्लवी प्रकाशन
बेरमा/निर्मली

JEEVANDAN

Hindi Translation of the Maithili Short-Story Collection Jeevan Dan
Original Author: Shri Jagdish Prasad Mandal
Hindi Translation: Shri Jagdanand Jha 'Manu'

Jeevandan presents a sensitive Hindi rendering of a Maithili short-story collection deeply rooted in the lived realities of Mithila. The original author, honoured with distinctions such as the Tagore Literature Award and the Sahitya Akademi Award, is celebrated for transforming ordinary rural experiences into literature of profound social and moral significance.

These stories enter the everyday worlds of villagers, families, farmers, elders, women, labourers, migrants and reflective common people, yet their concerns extend far beyond regional boundaries. They explore duty, family, social conscience, dignity, reform, trust, debt, addiction, courage, ageing, loss and human responsibility with quiet depth and emotional restraint.

The title Jeevandan signifies more than the gift of life; it evokes the inner strength through which human beings restore faith, rebuild fractured worlds and create meaning through compassion, action and shared humanity. This translation seeks to preserve the emotional richness, ethical seriousness and cultural fragrance of the original Maithili while presenting it in clear and accessible Hindi.

Jeevandan is both a literary work and a sensitive reflection of Mithila's living social conscience.

Published by: Pallavi Prakashan
Tulsi Bhawan, Nehru Marg, Ward No. 06, Nirmali, District: Supaul, Bihar: 847452
First Edition: 2026
ISBN: 978-93-48865-37-3
Price: 299/-
Copyright: © Publisher, 2026
Printed by: Manav Art (Pallavi Prakashan)
Typesetting: Dr. Umesh Mandal, umeshberma@gmail.com
Cover Design: Mrs. Poonam Mandal, Nirmali, Supaul, Bihar- 847452
Website: http://pallavipublication.blogspot.com
Email: pallavi.publication.nirmali@gmail.com
Mobile: +91 99316 54742, +91 62006 35563
Font Source: Google Fonts

All rights reserved. No part of this book may be reproduced, distributed, transmitted, adapted, paraphrased, stored in a retrieval system, or processed in any form or by any means, including electronic, mechanical, digital, or artificial intelligence systems, without the prior written permission of the copyright holder or the publisher.

समर्पण

मिथिला की उस जीवित धरती को समर्पित,
जहाँ श्रम, विश्वास, संघर्ष और करुणा से जीवन अपना अर्थ पाता है।

उन साधारण लोक-मनुष्यों को समर्पित,
जो टूटते समय में भी मनुष्यता बचाए रखते हैं
और अपने धैर्य, सेवा तथा कर्म से जीवन को जीवनदान देते हैं।

- जगदानन्द

कथा-क्रम

1. विरोध
2. जीवनदान
3. बाग-बगिया
4. विश्वास-पात्र
5. विचार की टिटकारी
6. लत
7. जीवन खटाई में पड़ गया
8. कर्ज
9. बहादुरी
10. हमारी भी आवश्यकता है
11. सपना
12. साथ-साथ आए, साथी मर गया, मैं भुतियाया-सा रह गया
13. उवाणि

भूमिका

श्री जगदीश प्रसाद मण्डल आधुनिक मैथिली साहित्य के उन विरल रचनाकारों में हैं, जिनके यहाँ जीवन और साहित्य अलग-अलग धरातलों पर खड़े नहीं दिखाई देते। उनका साहित्य किसी दूर बैठे दर्शक की कल्पना से नहीं, बल्कि समाज के भीतर जीए गए अनुभवों, देखे गए संघर्षों, सुने गए लोकस्वरों, खेत-खलिहान की गंध, परिवार की विडम्बनाओं, मनुष्य की पीड़ा और नैतिक प्रश्नों की अग्नि से निर्मित होता है। उन्होंने गाँव को केवल कथा का स्थान नहीं बनाया, बल्कि मनुष्य को समझने की जीवित पाठशाला बनाया। उनकी कथा-दृष्टि में साधारण मनुष्य असाधारण अर्थ ग्रहण करता है। किसान, मजदूर, स्त्री, बुजुर्ग, गृहस्थ, प्रवासी, शिक्षक, सामाजिक व्यक्ति, परिवार में टूटते-बनते संबंध और जीवन से जूझता हुआ सामान्य मनुष्य, ये सब उनके कथा-संसार के जीवित पात्र हैं। इन्हीं पात्रों के बीच से वे समाज की धड़कन सुनते हैं और पाठक को भी वह धड़कन सुनने के लिए प्रेरित करते हैं।

'जीवन दान' ऐसा ही कथा-संग्रह है, जिसमें जीवन केवल जैविक अस्तित्व का नाम नहीं है। यहाँ जीवन का अर्थ है, संघर्ष के बाद भी खड़े रहना, टूटने के बाद भी बिखरने से बचना, निराशा के बीच आशा की सम्भावना बचाए रखना और मनुष्य होकर मनुष्य के काम आना। इस संग्रह की कहानियाँ ऊपर से छोटी-छोटी घटनाओं से आरम्भ होती हैं,

पर भीतर जाते ही वे मनुष्य के नैतिक व्यक्तित्व, सामाजिक कर्तव्य और जीवन-दृष्टि से जुड़ जाती हैं। किसी कहानी में दान-दहेज का प्रश्न है, किसी में प्राकृतिक विपत्ति के बाद जीवन को फिर से सँभालने का संकल्प है। कहीं परिवार और समाज के बीच व्यक्ति की स्थिति है, तो कहीं विश्वास, सेवा, कर्ज, नशा, बहादुरी, भ्रम, मृत्यु-बोध और सामाजिक उत्तरदायित्व का गंभीर विवेचन है। इन कथाओं में घटना है, संवाद है, लोक-स्मृति है, कहावतों की लय है, ग्रामीण संवेदना है और सबसे बढ़कर मनुष्य को भीतर से देखने की सच्ची दृष्टि है।

मण्डलजी की विशेषता यह है कि वे जीवन को उपदेश की वस्तु नहीं बनाते, बल्कि अनुभव की आग में उसे परखते हैं। वे जानते हैं कि समाज केवल अच्छे विचारों से नहीं बनता। वह व्यवहार, संघर्ष, लोभ, विश्वास, मोह, त्याग, भ्रम और कर्म से बनता है। इसी कारण उनकी कथाओं में पूर्णतः सफेद या पूर्णतः काला संसार नहीं मिलता। वहाँ मनुष्य अपनी कमियों, इच्छाओं, दुर्बलताओं और सम्भावनाओं के साथ उपस्थित होता है। लेखक उस मनुष्य को दोष देकर अलग नहीं कर देते, बल्कि उसके भीतर छिपे विवेक को जगाने का प्रयास करते हैं। यही उनकी कथा-मानवता है। वे सामाजिक बुराइयों को देखते हैं, पर आशा का हाथ नहीं छोड़ते। वे गिरावट को पहचानते हैं, पर मनुष्य की उठने की क्षमता पर विश्वास बनाए रखते हैं। यही विश्वास इस संग्रह को केवल कथाओं का संग्रह न रखकर जीवन से जुड़े गंभीर विचारों का संसार बना देता है।

इस संग्रह का शीर्षक ‘जीवन दान’ अत्यन्त अर्थपूर्ण है। सामान्य रूप से जीवनदान का अर्थ किसी को मृत्यु से बचा लेना माना जाता है, पर मण्डलजी के यहाँ यह अर्थ बहुत व्यापक हो जाता है। यहाँ जीवनदान का अर्थ है, टूटे हुए मनुष्य को हिम्मत देना, निराश परिवार को फिर से खड़ा करना, समाज को उसके नैतिक मार्ग की याद दिलाना, संबंधों को

बिखरने से बचाना, श्रम को सम्मान देना और मनुष्य को उसके भीतर सोई हुई मनुष्यता से फिर जोड़ देना। जीवनदान केवल शरीर को बचाने का कर्म नहीं है। यह विचार, संवेदना, कर्म, विश्वास और करुणा के सहारे मनुष्य को फिर से जीने योग्य बनाने की प्रक्रिया है। इस दृष्टि से देखा जाए तो इस संग्रह की लगभग हर कथा किसी-न-किसी रूप में जीवन को नया आधार देने की कथा है।

मूल मैथिली में इन कहानियों को पढ़ते समय सबसे पहले जो बात मन को छूती है, वह है भाषा की आत्मीयता। मण्डलजी की भाषा में मिथिला के गाँवों की मिट्टी है, लोक-व्यवहार की सहजता है, संबंधों की ऊष्मा है और विचार की अपनी विशिष्ट चाल है। वे जिस तरह छोटे प्रसंग से बड़े प्रश्न तक पहुँचते हैं, वह उनकी लेखकीय पहचान है। उनके पात्र बोलते हैं तो लगता है जैसे गाँव का कोई परिचित व्यक्ति सामने बैठकर अपने अनुभव की गाँठ खोल रहा हो। कथा के भीतर कथा, संवाद के भीतर विचार और विचार के भीतर जीवन का मर्म, यह उनकी शैली की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। अनुवाद करते समय सबसे बड़ी चुनौती यही होती है कि इस सहजता, लोक-लय और नैतिक गंभीरता को हिंदी में यथासंभव सुरक्षित रखा जाए।

किसी भी रचना का अनुवाद केवल शब्द बदलना नहीं होता। विशेषकर ऐसी रचना का अनुवाद, जो लोक-जीवन से जन्मी हो और जिसकी आत्मा भाषा, मुहावरे, संबोधन, चरित्र और सांस्कृतिक स्मृति में बसती हो, अधिक सावधानी माँगता है। मैथिली की वाक्य-संरचना, संबंध-सूचक संबोधन, ग्रामीण मुहावरे और भाव-प्रसंगों को हिंदी में लाते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि मूल भाव का ताप कम न हो। कई स्थानों पर शब्द का सीधा हिंदी रूप मिल जाता है, पर उसके पीछे जो लोक-स्मृति रहती है, वह सीधे नहीं आती। वहाँ अनुवादक को केवल भाषा का नहीं, भाव का भी सेवक बनना पड़ता है। इस अनुवाद में यही

प्रयास है कि मूल कथा की आत्मा हिंदी में भी अपनी पहचान बनाए रखे।

मण्डलजी के कथा-संसार को हिंदी में उतारना केवल भाषिक कार्य नहीं, बल्कि एक आत्मीय संवाद भी है। इन कहानियों से गुजरते हुए बार-बार लगता है कि हम अपने ही समाज की ओर देख रहे हैं। कभी लगता है कि यह हमारे गाँव की बात है, कभी लगता है कि यह हमारे परिवार की बात है और कभी ऐसा भी लगता है कि लेखक हमारे भीतर छिपे उस व्यक्ति से बात कर रहे हैं, जो जीवन के प्रश्नों से बचना चाहता है, पर उनसे बच नहीं सकता। मण्डलजी की शक्ति यही है कि वे पाठक को केवल कथा नहीं सुनाते, उसे अपने समय, अपने समाज और अपने मन के सामने खड़ा कर देते हैं।

श्री जगदीश प्रसाद मण्डल को टैगोर साहित्य पुरस्कार और साहित्य अकादेमी पुरस्कार सहित अनेक सम्मान प्राप्त हुए हैं। ये सम्मान केवल किसी रचनाकार की उपलब्धियाँ नहीं, बल्कि उस लोक-साहित्यिक चेतना की स्वीकृति भी हैं, जिसे उन्होंने अपने श्रम, अनुभव और सृजन से प्रतिष्ठित किया है। मण्डलजी का लेखन बताता है कि गाँव का जीवन छोटा नहीं होता। छोटे हम तब हो जाते हैं, जब उसे समझने की दृष्टि खो देते हैं। उनकी कथाएँ मिथिला के भीतर से निकलती हैं, पर उनका मनुष्य व्यापक है। उनमें स्थानीयता है, पर वह स्थानीयता उन्हें सीमित नहीं करती। वह व्यापक मानवीय अनुभवों का द्वार खोलती है।

इस हिंदी अनुवाद को प्रस्तुत करते हुए मूल भाव यही है कि जो पाठक मैथिली नहीं पढ़ पाते, वे भी मण्डलजी के कथा संसार से परिचित हो सकें। हिंदी का पाठक इन कहानियों में मिथिला के गाँवों की बोली बानी, श्रम संस्कृति, संबंधों की गरिमा, सामाजिक विडम्बना और मनुष्य की आंतरिक लड़ाई को अनुभव कर सके, यही इस अनुवाद का मुख्य उद्देश्य है। भाषा को जहाँ तक संभव हुआ, सरल, प्रवाहमय और आत्मीय रखने का प्रयास किया गया है। साथ ही यह भी ध्यान रखा गया है कि

हिंदी इतनी सपाट न हो जाए कि मूल मैथिली का ग्रामीण स्पर्श और भाव गंध मिट जाए।

'जीवनदान' केवल पढ़ी जाने वाली पुस्तक नहीं है। यह पाठक को ठहरकर सोचने के लिए बाध्य करती है। यह पूछती है कि जीवन का अर्थ क्या केवल अपना घर सँभालना है, या समाज को भी सँभालना है। यह पूछती है कि विपत्ति के समय मनुष्य हार मान ले, या भीतर से फिर खड़ा हो। यह पूछती है कि विश्वास, श्रम, सेवा, साहस और करुणा के बिना जीवन सचमुच जीवन रह जाता है या नहीं। इन्हीं प्रश्नों के कारण यह संग्रह आज के समय में और भी महत्त्वपूर्ण हो उठता है।

इस संग्रह के कथा संसार पर दृष्टि डालने से स्पष्ट होता है कि मण्डलजी की कहानियाँ केवल किसी एक घटना, एक परिवार या एक व्यक्ति तक सीमित नहीं रहतीं। वे एक घटना से आरम्भ होकर समाज के बड़े वृत्त तक जाती हैं। उनकी कथा में कोई आदमी अकेला नहीं होता। उसके पीछे परिवार है, जाति समुदाय है, गाँव है, खेत है, आर्थिक दबाव है, नैतिक प्रश्न है और समय की बदलती हुई चाल है। इसी कारण इन कहानियों को पढ़ते हुए पाठक बार बार अनुभव करता है कि कथा बाहर की नहीं, हमारे ही समाज की है। पात्रों के नाम बदल सकते हैं, गाँव बदल सकता है, परिस्थिति का रूप बदल सकता है, पर जीवन का प्रश्न वही रहता है।

'विरोध' इस संग्रह की ऐसी कथा है, जो दान दहेज, दिखावा, डीजे संस्कृति और सामाजिक विवेक के क्षरण को लेकर गंभीर प्रश्न उठाती है। सियाराम भाय और मोतीलाल के संवाद के माध्यम से विवाह जैसे पवित्र सामाजिक संस्कार के बाजारीकरण पर तीखा संकेत किया गया है। लेखक दिखाते हैं कि समाज जिस बुराई का विरोध कर सकता था, वही कई बार उसका समर्थक बन बैठता है। फिर भी कथा निराशा पर समाप्त नहीं होती। उसमें यह भाव बना रहता है कि व्यक्ति यदि

अपने स्तर पर भी संकल्प ले, तो समाज के भीतर विरोध की चिंगारी बची रह सकती है। यह विरोध केवल शोर नहीं, बल्कि आत्मसंयम और नैतिक निर्णय का विरोध है।

शीर्षक कथा 'जीवन दान' इस संग्रह के मूल भाव को सबसे मार्मिक रूप से सामने लाती है। भूकम्प जैसी प्राकृतिक विपत्ति में घर गृहस्थी टूट जाती है, पशुधन नष्ट हो जाता है, जल का स्रोत रुक जाता है और जीवन मानो अचानक खाली हो उठता है। ऐसे समय में सुमन्त भाय और सविता भौजी के बीच जो संवाद बनता है, वह केवल पति पत्नी का संवाद नहीं, बल्कि जीवन और निराशा के बीच संवाद है। कथा बताती है कि जीवनदान बाहर से मिलने वाली कृपा मात्र नहीं, भीतर से उठने वाला संकल्प भी है। जब मनुष्य जीवन के टूटे हुए बर्तन को फिर से जोड़ने का साहस करता है, तब वह स्वयं को भी जीवनदान देता है और अपने साथ चलने वाले को भी।

'बाग बगिया' में परिवार, पीढ़ी, खेती, बाड़ी, पेड़ पौधे और स्मृति का सुंदर संयोजन मिलता है। सोमेश्वर बाबा जैसे पात्र के माध्यम से लेखक दिखाते हैं कि बाग बगीचा केवल फल देने वाली भूमि नहीं होता, वह परिवार की स्मृति, श्रम की निरंतरता और संबंधों की हरियाली भी होता है। रूपेश्वरी के प्रसंग में मायका और ससुराल, स्मृति और वर्तमान, अभाव और संतोष, सब एक साथ जुड़ते हैं। यह कथा बताती है कि मनुष्य अपनी जड़ों से पूरी तरह अलग नहीं होता। जो पेड़ बचा रहता है, वह केवल छाया नहीं देता, वह जीवन के भीतर संबंधों का भरोसा भी जगाता है।

'विश्वास पात्र' में शिक्षा, जीवन संघर्ष, सामाजिक दूरी, बौद्धिक पहचान और आत्मीयता का विशेष प्रसंग है। जुगेश्वर और योगेश्वर जैसे पात्र दो जीवन पथों का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक ओर विज्ञान, शिक्षा, संस्थागत जीवन और प्रतिष्ठा है, दूसरी ओर लोक समाज, अनुभव और

जमीन से जुड़ी समझ है। कहानी का सौन्दर्य इस बात में है कि ये दोनों पथ अलग होते हुए भी एक दूसरे से जुड़ते हैं। विश्वास का पात्र वही बनता है, जो अपने ज्ञान, पद या प्रतिष्ठा से ऊपर उठकर मनुष्य को मनुष्य की तरह स्वीकार कर सके। यहाँ मण्डलजी ज्ञान की विनम्रता और सामाजिक आत्मीयता को साथ रखते हैं।

'विचार की टिटकारी' शीर्षक ही संकेत देता है कि यह कहानी मनुष्य के भीतर सोए हुए विचार को जगाने का काम करती है। कथाकार और भदोहीवाली भौजी के प्रसंग से समाज, अनुभव और लोकबुद्धि का एक विशिष्ट रूप सामने आता है। समाज में अनेक प्रकार के मंच बनते हैं, अनेक प्रकार के लोग बोलते हैं, बहस करते हैं, झगड़ते हैं, जोड़ते हैं और तोड़ते भी हैं। पर लेखक के लिए विचार केवल बोलने की वस्तु नहीं है। विचार तब सार्थक होता है, जब वह जीवन को दिशा देता है। इस कथा में समाज की बहुरंगी संरचना, लोकबुद्धि, पाखंड, भक्ति, व्यवहार और विचार जीवन के बीच का तनाव देखा जा सकता है। मण्डलजी संकेत करते हैं कि विचार की टिटकारी मन को चौंकाती है, पर वही चौंकना जागरण का पहला क्षण भी हो सकता है।

'लत' में मनुष्य की आदत, निर्बलता और सामाजिक संकट का गहरा संकेत मिलता है। लत केवल नशे की नहीं होती, वह अहंकार की भी होती है, आलस्य की भी, लोभ की भी और दूसरों को छोटा मानने की भी। हिराय, राहगीर भाय और जीतवारपुरवाली भौजी के प्रसंग से कथा यह स्पष्ट करती है कि गाँव समाज में कोई बुराई अचानक नहीं फैलती। वह धीरे धीरे व्यवहार का हिस्सा बनती है और फिर सामान्य लगने लगती है। ऐसी स्थिति में कथा केवल दोष दिखाकर नहीं रुकती, बल्कि पाठक को यह सोचने के लिए विवश करती है कि मनुष्य अपने भीतर की पकड़ से कैसे मुक्त हो।

'जीवन खटाई में पड़ गया' शीर्षक जीवन की उस विडम्बना को

सामने लाता है, जहाँ छोटी छोटी बातों से घर, संबंध और मन सब खट्टे हो जाते हैं। हृदयनाथ, विचारनाथ, कथाकार, दीनानाथ और शंकर बाबा के माध्यम से कथा जीवन के भीतर जमा होते तनाव, भ्रम और असंतुलन को पहचानती है। जीवन में मिठास श्रम, विश्वास और संयम से आती है, पर जब स्वार्थ, तकरार और असंयम बढ़ते हैं, तब वही जीवन खटाई में पड़ जाता है। मण्डलजी ऐसे प्रसंगों में भी व्यंग्य, करुणा और नैतिक संकेत को साथ रखते हैं। वे केवल हँसाते नहीं, हँसी के भीतर छिपी पीड़ा भी दिखाते हैं।

'कर्ज' में ग्रामीण आर्थिक जीवन का कठोर यथार्थ सामने आता है। रामरतन भाय और मधुसूदन भाय के प्रसंग से स्पष्ट होता है कि गाँव समाज में कर्ज केवल रुपये का लेन देन नहीं होता, वह सम्मान, भय, निर्भरता, श्रम और भविष्य से जुड़ा प्रश्न भी होता है। किसान, मजदूर या साधारण गृहस्थ जब कर्ज में फँसता है, तो केवल उसकी जेब खाली नहीं होती, उसका मन भी दबता है। मण्डलजी ऐसे आर्थिक प्रसंगों को केवल निजी समस्या की तरह नहीं देखते। उनके लिए कर्ज का प्रश्न व्यवस्था, श्रम, विवेक और आत्मसम्मान से जुड़ा हुआ प्रश्न है।

'बहादुरी' में साहस का अर्थ केवल शारीरिक पराक्रम नहीं रह जाता। रामशरण चाचा और सोहन बाबा के माध्यम से कथा बताती है कि असली बहादुरी कई बार सत्य बोलने में है, गलत परम्परा के विरुद्ध खड़े होने में है, संकट में धैर्य रखने में है और अपनी कमजोरी पहचानने में भी है। मण्डलजी के पात्र साधारण होते हुए भी कभी कभी ऐसी आंतरिक दृढ़ता दिखा देते हैं, जो उन्हें बड़े नैतिक अर्थ से भर देती है। इस कथा में बहादुरी को लोक जीवन के धरातल पर परखा गया है।

'हमारी भी आवश्यकता है' शीर्षक अपने आप में उपेक्षित मनुष्य की आवाज है। सोमू, टीपू, जागेसर, बाबूलाल और सतभामा के प्रसंग से कथा यह बताती है कि समाज में अनेक लोग ऐसे होते हैं, जिनका

श्रम लिया जाता है, पर उनकी गरिमा स्वीकार नहीं की जाती। परिवार और समाज दोनों में कुछ लोग किनारे कर दिए जाते हैं, पर समय आने पर वही लोग आवश्यक सिद्ध होते हैं। यह कथा मनुष्य की उपयोगिता से आगे बढ़कर उसकी मानवीय गरिमा की बात करती है। हर व्यक्ति की अपनी जगह है, अपना मूल्य है और अपनी भूमिका है। मण्डलजी का समाज बोध इसी स्वीकार से गहरा बनता है।

'सपना' में आकांक्षा और यथार्थ का द्वंद्व देखा जा सकता है। कथाकार, लक्ष्मण भाय और रामलाल काका के माध्यम से कथा यह दिखाती है कि मनुष्य सपने के बिना नहीं जी सकता, पर सपना यदि कर्म से न जुड़े, तो वह भ्रम भी बन सकता है। गाँव का बच्चा हो, किसान हो, मजदूर हो, पढ़ने वाला युवक हो, परिवार का वृद्ध हो या समाज का कोई साधारण व्यक्ति, सबके भीतर कोई न कोई सपना रहता है। मण्डलजी सपने को नकारते नहीं, पर उसे जमीन से जोड़ते हैं। उनके यहाँ सपना तभी सार्थक है, जब वह श्रम, विवेक और सामाजिक जिम्मेदारी से जुड़ता है।

'साथ-साथ आए, साथी मर गया, मैं भुतियाया-सा रह गया' शीर्षक ही जीवन की अनिश्चितता, साथ, वियोग और मृत्यु बोध की ओर ले जाता है। श्याम, सुधीर और रीता के प्रसंग से कथा मनुष्य के उस अनुभव को छूती है, जहाँ साथ चलते हुए भी जीवन अचानक अकेला कर देता है। मनुष्य संसार में अकेला नहीं आता, वह संबंधों के साथ आता है, पर यात्रा में साथी छूटते जाते हैं। मृत्यु केवल एक व्यक्ति की समाप्ति नहीं, बचे हुए व्यक्ति के भीतर एक अजीब खालीपन भी छोड़ जाती है। मण्डलजी मृत्यु को भी जीवन की दृष्टि से देखते हैं। उनके लिए मृत्यु का स्मरण मनुष्य को अधिक जागरूक, अधिक करुण और अधिक जिम्मेदार बना सकता है।

अन्तिम 'सपना' में कथाकार, भुलिया काकी, झखरी दादी और

लाल भाय के प्रसंग से भ्रम, लोकविश्वास, सामाजिक व्यवहार और अनुभवजन्य विवेक का विशेष रूप सामने आता है। समाज में भ्रम अनेक रूपों में फैलता है। कभी सूचना के रूप में, कभी विश्वास के रूप में, कभी धर्म के नाम पर, कभी प्रतिष्ठा के नाम पर और कभी अधूरी समझ के रूप में। भ्रम मनुष्य को रास्ते से भटका देता है, पर लेखक का उद्देश्य केवल भ्रम की पहचान कराना नहीं है। वे उससे निकलने का विवेक भी जगाते हैं। इस कथा के माध्यम से संग्रह मानो पाठक से कहता है कि जीवन में विश्वास आवश्यक है, पर विवेक उससे भी अधिक आवश्यक है।

इन कहानियों की एक बड़ी विशेषता संवाद है। मण्डलजी के संवाद साधारण बोलचाल से उठते हैं, पर धीरे धीरे विचार का रूप ले लेते हैं। दो व्यक्तियों की बातचीत में पूरा समाज बोलने लगता है। कहीं भाय भौजी का संबंध है, कहीं पति पत्नी का, कहीं बाबा पोती का, कहीं मित्रता का, कहीं गाँव के बुजुर्ग और युवा के बीच विचार का आदान प्रदान है। इन संवादों में लोक की सहजता भी है और जीवन दर्शन की गंभीरता भी। यही कारण है कि उनकी कहानियाँ केवल कथानक के सहारे नहीं चलतीं। वे विचार, स्मृति, उदाहरण, कहावत, प्रतीक और अनुभव के सहारे आगे बढ़ती हैं।

अनुवाद के स्तर पर बार बार यह प्रश्न सामने आता है कि इन संवादों की मौलिक आत्मीयता को हिंदी में कैसे रखा जाए। मैथिली में संबोधन की जो मधुरता है, ग्रामीण वाक्य विन्यास की जो सहज गति है और विचार को घुमाकर कहने की जो लोक पद्धति है, उसे पूरी तरह किसी दूसरी भाषा में उतारना सरल नहीं। फिर भी यह प्रयास किया गया है कि हिंदी पाठक को पढ़ते समय यह अनुभव बना रहे कि वह किसी यांत्रिक अनुवाद को नहीं, बल्कि जीवित लोक समाज से निकली हुई कथा को पढ़ रहा है। मूल की आत्मा के प्रति निष्ठा रखते हुए हिंदी की

स्वाभाविकता को भी ध्यान में रखा गया है।

इन कहानियों में मिथिला बार बार उपस्थित होती है, पर यह केवल भौगोलिक मिथिला नहीं है। यह श्रम की मिथिला है, खेत की मिथिला है, संबंधों की मिथिला है, लोक संस्कार की मिथिला है और साथ ही प्रश्न पूछने वाली मिथिला भी है। यहाँ परम्परा है, पर अंध स्वीकार नहीं। यहाँ धर्म है, पर कर्म से अलग नहीं। यहाँ समाज है, पर समाज की गलतियों पर मौन सहमति नहीं। यहाँ परिवार है, पर परिवार के भीतर छिपी विडम्बनाएँ भी हैं। यही संतुलन मण्डलजी को महत्त्वपूर्ण कथाकार बनाता है।

हिंदी के पाठक इस संग्रह में केवल मिथिला की कहानियाँ नहीं पढ़ेंगे, वे अपने समाज का दर्पण भी देखेंगे। उन्हें लगेगा कि दान दहेज, कर्ज, नशा, उपेक्षा, प्रवास, बुढ़ापा, मृत्यु, सेवा, विश्वास और मनुष्य की जिजीविषा केवल किसी एक क्षेत्र की समस्या नहीं है। ये हमारे समय की व्यापक मानवीय स्थितियाँ हैं। मण्डलजी इन स्थितियों को नारे में नहीं बदलते। वे उन्हें कथा में, पात्र में, संवाद में और अनुभव में रूपांतरित करते हैं। यही साहित्य का सच्चा काम है।

इस अनुवाद को पाठकों के सामने रखते हुए अनुवादक अपने को केवल एक माध्यम मानता है। मूल रचना का श्रेय मूल लेखक को है और उसमें निहित लोक चेतना का श्रेय उस समाज को है, जिसने उन्हें जीवन का इतना विराट अनुभव दिया। अनुवादक की भूमिका इतनी ही है कि उस अनुभव की रोशनी हिंदी पाठकों तक पहुँचे। यदि पाठक इन कहानियों को पढ़ते हुए अपने जीवन, अपने समाज और अपने कर्तव्य पर एक क्षण भी गंभीर होकर विचार करेंगे, तो यह अनुवाद प्रयास सार्थक माना जाएगा।

अंत में इतना ही कहा जा सकता है कि 'जीवनदान' जीवन से हार मानने की पुस्तक नहीं है। यह जीवन को फिर से पकड़ने, उसे सँभालने,

उसे अर्थ देने और दूसरों के जीवन में रोशनी पहुँचाने की पुस्तक है। यह संग्रह बताता है कि मनुष्य यदि अपने भीतर की करुणा, श्रमशीलता, विश्वास और विवेक को बचाए रखे, तो टूटे हुए समय में भी समाज को नया सहारा मिल सकता है। जीवन का दान केवल बड़ा कर्म नहीं होता। कभी कभी एक सच्चा शब्द, एक सहारा, एक निर्णय, एक श्रमशील हाथ, एक विश्वासी संबंध और एक जागृत विचार भी जीवनदान बन जाता है। इसी विश्वास के साथ यह हिंदी अनुवाद पाठकों को समर्पित है।

- जगदानन्द झा 'मनु'

विरोध

☰

मिथिला के मध्य भाग में लोहितपुर एक ऐसा गाँव है, जिसके उत्तर की ऊँचाई पर पहाड़ है और नीचे नदी-नालों का समुद्र-सा विस्तार फैला हुआ है। गोधूलि का समय था। धूसरता और नीलिमा से गुजरता हुआ आकाश लालिमा से भरता जा रहा था। आम के पेड़ के नीचे बैठे सियाराम भैया अकेले मन-ही-मन सोच रहे थे कि मन तो मन ही है, सबका अपना-अपना है, तरह-तरह का है। ऐसे में जब एक मन होगा, तभी न सूद-सवाई जोड़कर वह सवा मन बनेगा।

सियाराम भैया के विचारों का क्रम सूत्रवत् बना हुआ था कि बुरा कर्म करने से नरक और अच्छा कर्म करने से स्वर्ग अवश्य मिलेगा। साथ ही, यह बात भी उनके मन में रोपी हुई थी कि झूठ बोलना पाप है और सत्य बोलना ही धर्म है। सबको मालूम है कि वातावरण ऐसा बन गया है कि खाली बोतल-शीशी की तो गारंटी है, पर उसमें भरी चीज की कोई गारंटी नहीं। यानी, मानो लेबल लगाने वाला कोई जिम्मेदार व्यापारी है ही नहीं। देख ही रहे हैं कि एक ओर पैंसठ वर्ष के बाद सेवा-निवृत्ति होती है, तो दूसरी ओर इक्कीस-बाईस वर्ष में ही आदमी जैसे निवृत्त-सा हो जाता है। जब-जब व्यापारी के मन में व्यापार उठता है, तब-तब चाहे कारखाने की वस्तु हो या गृहस्थी की चीज, सब कुछ घालमेल हो ही जाता है।

अमटी की तरह, जिसमें पेट भरने लायक फल नहीं, पर पत्तों से अधिक काँटे हैं, और वे भीष्म पितामह की शरशय्या की तरह अपनी ही देह पर लटके हुए हैं। फिर भी अमटी कितनी ही कँटीली क्यों न हो, बेंत के कँटीले झाड़-जंगल से तो अच्छी ही है। अपने ही मन में सियाराम भैया को लग रहा था कि वे बरसात की बूँद से बने बुलबुले की तरह बनेंगे भी और फूटेंगे भी, तो फूट ही जाएँगे।

व्याकुल और बेचैन होते हुए सियाराम भैया ने मन-ही-मन एक मन को दूसरे मन का प्रिय बनाने की राह पर दृष्टि डाली। जीवन है न, कोई मजाक थोड़े है कि दिन में तीन बार गिरगिट या थल-कमल के फूल की तरह अपना रंग बदल ले। यह तो स्वयं ही समझना पड़ेगा कि मनुष्य के जीवन-प्रवाह की धारा कैसी है और उस धारा में समाज की धारा को कैसे प्रवाहित करना है। हनुमानजी की तरह बचपन में ही सूर्य को निगल जाना थोड़े संभव है। यह सत्य है कि सूर्य का बालरूप भी बालपन के साथ ही जन्म लेता है। सच कहें तो ऐसा विचार केवल बड़ों की ही चीज कहाँ है? बच्चों के मन में भी दस-पंद्रह मिनट के अभ्यास से उसे रोपा जा सकता है। लेकिन जीवन भर उसे निभा लेना, यह तो निभाने वाला ही जान सकता है कि वह निभा रहा है। केवल बोलने वाला थोड़े निभा सकता है। यह बात समझी हुई है कि ब्रह्म को खोजने वाला तभी उसे पा सकता है, जब वह स्वयं ब्रह्ममय हो चुका होता है।

नदी या पोखर में आगे कदम बढ़ाने का अर्थ यदि नीचे की ओर बढ़ना हो, तो जैसे खतरे की घंटी मन में बज उठती है, वैसे ही ऊपर की ओर, यानी किनारे की ओर बढ़ने पर भी मन की घंटी बजते-बजते अपने ही स्वर से विहीन हो जाती है। ठीक उसी तरह, स्वरहीन होने के बाद जैसे नए स्वर का आवाहन होता है, वैसा ही सियाराम भैया के भीतर हुआ। उन्हें लगा कि घर बनाने में जितनी शक्ति घर बनाने वाले को लगती है, उसे उजाड़ने या आग से जला देने में उतनी शक्ति थोड़े लगती है। मन

को मन से जोड़ना एक प्रश्न हुआ और दूसरा प्रश्न हुआ मन को मन से तोड़ना। जोड़ने और तोड़ने के बीच प्रियता लाने के लिए स्वयं ही दोनों को पकड़कर एक जगह आमने-सामने करना होगा।

अनायास सियाराम भैया के मन में कबीरदास का विचार जागा। जागते ही उनके मन ने मान लिया कि कबीर बाबा का विचार ठीक ही है कि अपनी आँखों से देखा हुआ सबसे अधिक विश्वास का कारण होता है, क्योंकि वही सत्य भी होता है। सुनी-सुनाई बात तो वैसी ही होती है, जो धर्म के नाम पर धन का खेल चलाती है और धन को ही धनतंत्र कहती है। उसमें अपने को कोई कमजोर मानने के लिए थोड़े तैयार होता है। एक ओर यह भी परिवेश के अनुरूप सत्य है कि धर्म जीवन का सबसे बड़ा दाता है, तो दूसरी ओर यह भी झूठ नहीं है कि धर्म जीवन लेता भी रहा है।

विचित्र स्थिति में पड़े सियाराम भैया ने अपने को एकाग्र करते हुए सोचा कि 'एके साधे सब सधे।' जीवन के घने वन में स्वयं को खोज लेना ही सबसे बड़ा सत्य है। यों तो जीवन और मरण को अकाट्य सत्य माना जाता है, लेकिन दोनों में, यानी जीवन में भी और मृत्यु में भी, कुछ-न-कुछ असत्य तो है ही। मतलब यह कि जन्म लेने के बाद जब हम दुनिया में कुछ करने के लिए प्रवेश करते हैं, तब धरती के बाहर ही क्यों, भीतर भी तो जीवन के साथ मृत्युशय्या बनी हुई है। उसी तरह मृत्यु का समय भी ऐसा ही है। वह क्षण में क्षणिका हो जाती है और क्षण-पल चलते-चलते न मृत्यु बहुत लंबी रह जाती है, न जीवन। यह भी कैसे न कहा जाए?

आम के पेड़ के नीचे बैठे सियाराम भैया ने ऊपर की ओर देखा ही था कि उसी समय अंग्रेजी बाजे की धुन, यानी डीजे बैंड पार्टी की गरगराहट, उनके कानों में आकर चुभ गई। जैसे तेज शोर या मिर्च की झाँस लगने पर मन में बेचैनी उठती है और मन तिरछा-तिरछा, उलझा-

सा हो जाता है, वैसा ही सियाराम भैया को लगने लगा। वे अचानक उठकर अडिग खड़े हो गए। खड़े होते ही उनके मन ने कहा कि जब तक मन की यह बेचैनी कम नहीं होगी या मिट नहीं जाएगी, तब तक ध्रुव की तरह एक टाँग पर ही खड़ा रहूँगा।

यदि सियाराम भैया ने कभी भूगोल पढ़ा होता, तो वे उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव को अक्षांश-रेखा से नापते। वैसा तो था नहीं। भूकंप के बारे में वे इतना ही समझते थे कि रिक्टर पैमाने पर तीन, पाँच या सात-नौ का भूकंप हुआ। यह थोड़े समझते थे कि रिक्टर पैमाने पर एक अंक से दूसरे अंक तक पहुँचने में शक्ति कई गुना बढ़ जाती है।

जितना सियाराम भैया अपनी ओर देखते, उतना ही उनके मन में विषाद बढ़ता जाता। हार मानते हुए मन से किसी दूसरे से सहमति बनाने के लिए उन्होंने आगे की ओर देखा। यों मन में यह बात भी उठी कि इस समय तो मैं ही खाली बैठा हूँ, पर सबके साथ ऐसा ही हो, यह आवश्यक नहीं। तब किससे विचार-विमर्श किया जाए?

उन्होंने आसपास दृष्टि दौड़ाते हुए पूरे गाँव को टटोल-सा लिया, पर कहीं कोई दिखाई नहीं पड़ा।

जब सियाराम भैया की दृष्टि मुझ पर पड़ी, तब उनके मन में थोड़ी शांति आई। चैन की साँस भीतर जाते ही वे मुझसे मिलने के लिए आगे बढ़े। इसी बीच एक नहीं, अनेक अंग्रेजी बाजों की आवाजें डीजे के माध्यम से गाँव में कोलाहल मचाने लगी थीं।

जैसे बूँदाबाँदी के समय कोई राहगीर आकाश से गिरती बूँदों के बीच अपनी धोती-कुर्ता समेट-समेटकर सूखा रहने और बच निकलने का प्रयास करता है, चाहे वर्षा का रूप जैसा भी हो, वैसे ही विचारों में उठते-डूबते सियाराम भैया को मैंने रास्ते से आते देखा।

मगर अपने मन ने ही मन को समझाया कि मन में कितनी भी उलझन क्यों न हो, जब सामने देख ही लिया है, तब मुँह चुराना किसी

भी अर्थ में उचित नहीं होगा। किसी विचार या काम में मतभिन्नता क्यों न हो, पर यदि टोका-टोकी नहीं करूँगा, तो यह कमजोरी ही मानी जाएगी।

सियाराम भैया थोड़ा हटकर खड़े थे। मैंने दोनों हाथ जोड़कर छाती के सामने रखते हुए कहा-

“पाँव छूता हूँ, भाई साहब।”

यों मन में यह भी उठ रहा था कि प्रणाम के साथ उनसे यह भी पूछ लूँ कि चेहरा इतना उदास क्यों दिखाई दे रहा है? पर वह बात मुँह से नहीं निकाल सका। कारण यह कि अपने ही मन ने विचार देकर कह दिया कि प्रणाम का अर्थ है एक ही रास्ते पर चलना, यानी साथी बनकर साथ-साथ चलना। ऐसे में तो उनका भी, यानी सियाराम भैया का भी, यह कर्तव्य बनता है कि उनकी आज की मनःस्थिति में कहीं कोई बाधा या रुकावट तो नहीं है। तभी सियाराम भैया बोले-

“मोतीलाल, डीजे बाजे की आवाज से लगता है कि किसी एक-दो व्यक्ति का नहीं, मानो पूरे गाँव की बारात सज गई हो।”

यों सियाराम भैया भी समझते थे और मैं भी समझता था कि मैं उनका मुँहलगा हूँ। जब मुँहलगा हूँ, तब यदि कोई अच्छी या बुरी बात, कोई विचार बोलूँगा, तो वे उसे एक ही कसौटी पर तौलेंगे। और छोटे भाई के रूप में इतनी छूट तो देंगे ही कि अभी बाल-बोध है, उसे ज्ञान-बोध की आवश्यकता है, पहले उसे पूरा कर दिया जाए। जब मुँहलगा हूँ, तब मुँहलगे को मुँह मिलाना ही पड़ेगा। उसी मुँह-मिलानी के स्वर में मैंने कहा-

“भाई साहब, गाँव के लोग गाँव की सेवा भी करते हैं और मेवा भी पाते हैं।”

मुझे बहकता हुआ समझें या भीतर से उबलता हुआ, यह मन-ही-मन तौलते हुए सियाराम भैया ने पूछा- “वह क्या, मोती?”

सियाराम भैया जैसे व्यक्ति के मन में जब पूछने की जिज्ञासा हुई, तब अपना मुँह चुरा लेना अच्छा थोड़े होता। मैंने कहा-

“भाई साहब, इसी डीजे की आवाज से गाँव में जो दान-दहेज की हवा फैल गई है, उसमें आग लगेगी।”

बोलते समय तो मैं बोल गया, पर बाद में याद आया कि सियाराम भैया जो कहने वाले थे, वह बात पीछे छूट गई। पर संयोग अच्छा रहा कि सियाराम भैया ही बोले-

“किसमें आग लगेगी, मोती?”

अपने को होलिका की तरह चारों ओर आग से घिरा हुआ देखकर मैंने कहा-

“भाई साहब, जैसे सरकारी पैसे को सरकारी आदमी अपना समझता है, वैसे ही गाँव-समाज में दान-दहेज के पैसे को लोग ऐसे समझते हैं, मानो पुरखों की कमाई हाथ लग गई हो। इसलिए यह धूम-धड़ाका इतना दिखाई देता है।”

सियाराम भैया ने पूछा-

“इससे लाभ होगा या हानि?”

सियाराम भैया को बात में रुचि लेते देखकर मैंने कहा-

“भाई साहब, दान-दहेज को यही डीजे की आवाज खा जाएगी। अभी देख ही रहे हैं कि गाँव में जितने लँगड़े-लूले थे, सब प्रेमी-प्रेमिका बनकर बंगलोर चले गए।”

चेहरे से लगा कि सियाराम भैया गंभीर हो रहे हैं। इसलिए मैं स्वयं अनुमान लगाने लगा कि अब सियाराम भैया जो बोलेंगे, उसे ध्यान से सुनना होगा। सियाराम भैया बोले- “मोती, दो प्रश्न विचारणीय हैं।”

मैंने कहा- “बारी-बारी दोनों का स्वरूप कहिए।”

सियाराम भैया बोले- “पहला प्रश्न यह है कि वैदिक युग से लेकर

आज तक विचार की दुनिया में बेटे के विवाह में दान-दहेज लेने को पाप माना गया है, पर आज उसे धर्म का रूप दिया जा रहा है। जो समाज इसका विरोध करने वाला था, वही समर्थक हो गया है। पचानबे प्रतिशत लोग दान-दहेज की बाढ़ में नहा-नहाकर स्वयं को पवित्र बना रहे हैं। ऐसी स्थिति में क्या कहा जाए?"

सियाराम भैया के विचारों के प्रवाह में मैं इस तरह बह रहा था कि स्वयं कितने पानी में हूँ, इसकी थाह भी नहीं रही। मैंने पूछा-

"क्या किया जाए, भाई साहब?"

सियाराम भैया बोले-

"जैसे व्यक्तियों का समूह समाज है, वैसे ही समाज का एक अंग व्यक्ति भी है। इसलिए व्यक्तिगत स्तर पर, मन से ही सही, आदमी विरोध तो कर ही सकता है। अपने बेटे के विवाह में दहेज नहीं लूँगा, इतना तो किया ही जा सकता है।"

मैंने कहा-

"अकेला आदमी भी अपने विचार और कर्म के हथियार से समाज की रणभूमि में खड़ा रह सकता है। और दूसरा?"

सियाराम भैया बोले-

"विवाह के दान-दहेज को रोकने का सबसे तेज हथियार, कहें तो अग्नेयास्त्र, स्वेच्छा से विवाह करना होगा। लेकिन समाज का जो स्वरूप है, वह ऐसा बना हुआ है कि उससे अराजक स्थिति भी पैदा हो सकती है।"

मैंने कहा-

"हाँ, ऐसा तो हो ही सकता है।"

सियाराम भैया बोले- "तब?"

‘तब’ सुनते ही मेरी स्थिति वैसी हो गई, जैसे किसी गहरे पोखर के पानी की थाह लेना कठिन हो जाता है। मैंने पूछा-

“तब कैसे होगा, भाई साहब?”

सियाराम भैया बोले-

“यह समाज की समस्या है। समाज ही उसका उपाय सोचकर आगे की दिशा समूचे समाज को दिखाएगा।” ❑

जीवनदान

☰

द्वार के आगे लगे भालसरी फूल के पेड़ के नीचे बैठे सुमन्त भैया अपने जीवन को देख रहे थे। सात दिनों से शोकाकुल सुमन्त भैया को कोई राह नहीं सूझ रही थी। सात दिन पहले ऐसा भूकंप आया था, जिसमें उनके तीनों घर गिर पड़े थे। यही उनके शोक का कारण था। द्वार के आगे लगे चापाकल का पाइप बालू से इस तरह भर गया था कि उससे पानी निकलना बंद हो गया था। घर गिरने से बैल और भैंस मर गए थे। एक ओर सुमन्त भैया जीवन का अंत देख रहे थे, तो दूसरी ओर सामने धरती पर बैठी उनकी प्राणप्रिय पत्नी भी थी। इन सात दिनों के भीतर रुक-रुककर सत्रह से अधिक छोटे-छोटे झटके आ चुके थे। यों उनसे गाँव में जान-माल की कोई बड़ी क्षति नहीं हुई, लेकिन धरती तो डोलती ही रही। शोकाकुल मन के कारण सुमन्त भैया की आँखों के सामने शोक से भरी दुनिया फैली हुई थी कि इसी बीच टूटे मन से पत्नी ने आकर पूछा-

"अब क्या करेंगे?"

पत्नी का प्रश्न सुनकर सुमन्त भैया ने हड़बड़ी में उत्तर देने से अपने को रोक लिया। उनके इस परहेज का कारण यह था कि वे देख ही रहे थे कि गाँव-समाज में ऐसी रीति बन गई है कि कोई पूछे, भैया, हाल-चाल क्या है? तो मुँह पर चढ़ा उत्तर मिल जाता है, 'सब ठीक-ठाक है।' क्या जीवन कोई खेल है कि इतनी आसानी से ठीक-ठाक हो जाएगा? ठीक होने में क्या-क्या करना पड़ता है, यह तो वही जानता है, जो सचमुच

ठीक हुआ हो, जिसने जाना हो कि जीवन को सँभालने में क्या-क्या लग जाता है।

मन-ही-मन सुमन्त भैया मन-मंथन भी कर रहे थे और पत्नी को ऊपर से नीचे, यानी सिर से पाँव तक, और नीचे से ऊपर, नख से शिख कहिए या शिख से नख तक, देख भी रहे थे। डूबते हुए मन ने पत्नी के बारे में सुमन्त भैया से कहा- 'अब यह कैसे जी पाएगी? एक ओर तो बना-बनाया जीवन-संसार नष्ट हो गया है और दूसरी ओर शरीर में अब वह शक्ति भी नहीं रही कि फिर पहले की तरह सब कुछ बना सके।'

एक ओर सुमन्त भैया के मन में विवाह की वह सुबह स्मृति में उभर आई, जब सास ने आशीर्वाद देते हुए कहा था- 'बेटा, तुम दोनों का जीवन जुड़ गया है। इसी तरह, जब तक आँखें देखती रहें, तब तक इसे जुड़ा रखना।' दूसरी ओर यह बात भी उठी कि अभी जिस स्थिति में पहुँच गया हूँ, वहाँ उस पुरानी दुनिया की आशा छोड़कर नए रूप में अपने जीवन की नई दुनिया बनानी पड़ेगी। पत्नी तो पत्नी है, जीवन की सबसे निकट की साथी। ऐसे में यदि आत्मीय और जनप्रिय विचार से संचालित नहीं होऊँगा, तो वही होगा, जैसे कोई साधक सितार पर अपनी साधना का स्वर साध रहा हो और बगल में लोहार घन से निहाई पर लंबी चोट कर रहा हो।

मुस्कुराते हुए सुमन्त भैया बोले-

"करने के लिए तो पूरी दुनिया पड़ी है, तब?"

'तब' कहकर सुमन्त भैया इसलिए चुप हो गए कि कम-से-कम पत्नी भी तो अपना कुछ विचार रखेगी। उसके लिए भी तो संसार बड़ा है। अपनी आँखों से वे यह भी देखते ही रहे हैं कि किसी का कमाने वाला जवान बेटा मर जाता है, फिर भी लोग छाती मजबूत करते हैं। किसी बाल-बोध बच्चे के माँ-बाप मर जाते हैं, तो फिर वह कैसे जीता है! लेकिन

यह विचार सविता भौजी के मन में उठा ही नहीं। एक तो वैसे भी कम पढ़े-लिखे लोग बहुत कुछ भूल जाते हैं, यानी विस्मृत-से हो जाते हैं, और अधिक पढ़े-लिखे लोग कम भूलते हैं, फिर भी भूल तो उन्हें भी होती ही है। सविता भौजी तो सहज ही विद्यालय-महाविद्यालय की शिक्षा से पूरी तरह वंचित रही थीं। फिर भी उनके मन में जीवन के प्रति इतना स्नेह था कि किसी तरह कुछ दिन और देख लिया जाए।

दोनों साथियों की अवस्था पचपन-साठ वर्ष की हो ही गई थी। यदि अपनी आयु से भी मरना होगा, तो पाँच-दस वर्ष और ही जी पाएँगे। सविता भौजी के मन में घने धुएँ की तरह कोई स्पष्ट विचार उठ ही नहीं रहा था। जैसे धुएँ में अँधेरा रहते हुए भी कुछ धरती-पुत्र ऐसे होते हैं, जो उसे अँधेरे का अँधेरा नहीं समझते, दिन की तरह कर्मभूमि में मग्न होकर कर्मयोग साधते रहते हैं। चाहे उनके मन में ऐसा आया हो या न आया हो कि हजार वर्ष पीछे को अतीत कहिए या भूतकाल, और हजार वर्ष आगे को भविष्य कहिए या सपना, दोनों के बीच आज का संबंध तो है ही। लेकिन आज का संबंध तो आज के कर्म से, यानी काम से ही जुड़ता है और आज की अंतिम सीमा पर पहुँचकर कल का कर्म कल के लिए छोड़ देता है। इसी क्रम में मनुष्य समय के साथ प्रकृति में स्थित होकर जीवन धारण करता है।

एक ओर सविता भौजी का मन शोक से व्याकुल था, तो दूसरी ओर सुमन्त भैया का मन कबीर बाबा के साथ-साथ मिथिला के गाँव-गाँव घूम-घूमकर गा रहा था कि 'दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय।' भैया, रात है तो दिन भी अवश्य होगा, दुख है तो सुख भी अवश्य होगा। उसी तरह धूप है तो ताप भी होगा। जानते ही हैं कि धरती के प्राणियों से कितने गुणा अधिक पानी दुनिया में फैला हुआ है, तब पानी का अभाव क्यों है? कहेंगे कि वह खारा है। खारापन क्यों है, यह भी तो हमें स्वयं ही समझना पड़ेगा। कबीर बाबा कहते हैं कि 'पानी में मीन

पियासी, देखि-देखि लागै हांसी।'

मग्न हुए सुमन्त भैया के सामने उनके विवाह-दिन वाली सविता का रूप आकर खड़ा हो गया। सविता का रूप देखकर सुमन्त भैया के मन-मंत्र ने विह्वल होकर कहा-

'व्यर्थ में यदि छोटी पीड़ा को बड़ा रोग बनाकर आह-कराह करूँगा, तो यह दुनिया एक दिन भी जीने नहीं देगी।'

जैसे एक ओर प्राकृतिक प्रकोप है, वैसे ही दूसरी ओर साढ़े तीन हाथ के मनुष्य का प्रकोप भी कम नहीं है। जैसे एक ओर देव खड़ा है, वैसे ही दूसरी ओर दानव भी खड़ा नहीं है, यह कैसे कहा जा सकता है? तब बात यह हुई कि दोनों के बीच जो योग-क्रिया है, उसे जब ईमानदारी से 'ई-मान' मानकर आगे चलेंगे, तभी रसपूर्ण जीवन का पका फल मिलेगा। खैर, जो मिलेगा या जो मिल रहा है, वह सबके सामने है ही। मन-ही-मन सोचते हुए सुमन्त भैया की दृष्टि सविता पर बिजली की कौंध की तरह ठहर गई।

पति को चेतन अवस्था में देखकर सविता भौजी ने अपने को सँभालते हुए कहा-

"जब हम दोनों प्राणियों को जीने-मरने के लिए माता-पिता और पूरे समाज ने एक सूत्र में बाँध दिया है, तब यही अच्छा होगा न कि एक ही सिरहाने मरें या जीएँ।"

पत्नी का विचार सुनकर, अपने दोनों प्राणियों का जीवन सामने रखकर सुमन्त भैया बोले-

"उचित ही तो है?"

यों बोलते-बोलते सुमन्त भैया बोल गए, लेकिन बोलने के बाद उनके अपने मन ने मोह जगाते हुए कहा-

'ऐसा भी तो संभव है कि मेरे मन में जो कर्मशील विचार है, वह

उनमें न हो। लेकिन यह समझूँ कैसे?'

इसी बीच सविता भौजी बोली-

"मेरे माता-पिता और समाज ने भी आपका हाथ पकड़ाकर ही मुझे छोड़ा है। ऐसी स्थिति में अब आप ही सोचेंगे भी और जीने के लिए कुछ करेंगे भी।"

पत्नी का विचार सुनकर सुमन्त भैया के मन में जैसे प्रशांत महासागर उमड़ पड़ा। प्रशांतचित्त होते ही सुमन्त भैया बोले-

"किसी चिंता-फिक्र की जरूरत नहीं है। जीवन पाना कठिन भी है और दुर्गम भी, पर जीवनदान देना असाध्य नहीं है। इसलिए मन में ऐसी विचार-फसल उपजानी होगी कि साथ मिलकर जीना ही सार्थक जीवन है।"

पत्नी से खुलकर बोलने वाले पुरुष तो सुमन्त भैया थे ही। उलटकर पत्नी से पूछा-

"अब क्या करें? जीवन तो गले का घेघ बन ही गया है।"

अपने मुँह से निकला 'घेघ' शब्द जैसे सुमन्त भैया के अपने ही मन में अटक गया। लेकिन ईमानदारी का जीवन भी तो जीवन की उच्च कोटि की सीमा है। जिस ईमान से आदमी अपनी ईमानदारी की उस सीमा को छू लेता है, जहाँ से मन-मंदिर की मणि मणिमय होकर चारों ओर छिटकती है।

पति को विचार में डूबा देखकर सविता भौजी बोली-

"मुझे तो किसी रास्ते की रोशनी दिखाई नहीं पड़ रही है। आप ही तो पति हैं?"

पत्नी का विचार सुनकर सुमन्त भैया पिघल गए। भैया, पिघलना किसी वस्तु की वह अवस्था है, जहाँ से वह नए रूप में ढलने लगती है। दुनिया तो दुनिया है, जो साध्य भी है और असाध्य भी। जैसे दुनिया की

बनावट एकरंगी नहीं है, वैसे ही जन्मभूमि की प्रकृति भी एकरंगी नहीं होती। कोई क्षेत्र ऐसा है, जैसे साइबेरिया, जिसे भूगोल की भाषा में उत्तरी ध्रुव के सबसे निकट की भूमि समझते हैं। वहाँ की उपजाऊ भूमि की दशा ऐसी है कि नौ-नौ महीने तक बर्फ की चादर से ढकी रहती है। वहाँ यदि भूमध्यसागरीय क्षेत्र जैसी भूमि की कल्पना मन में रोपकर कोई किसान-जीवन चलाने का विचार करे, तब तो वही बात होगी कि ध्रुव का क्या दोष था, जिसे सतयुग से ही बेचारे को एक टाँग पर खड़ा कर रखा गया। वहाँ यह भी अपने आप सोच-विचार करना होगा कि अभिमन्यु ने क्यों बाल्यावस्था में ही हनुमान की तरह सीता-राम को हृदय में धारण कर रणभूमि का संकल्प लिया? वही संकल्प बेचारे को आज भी कृष्ण की तरह बालक-रूप में लोक-समाज में फैलाए हुए है और आगे भी फैला सकता है। खैर, जो है, सबकी अपनी दुनिया है। अपनी दुनिया को आदमी चाहे तो दुनिया को खिलौना बनाकर खेले, या दुनिया ही उसे खिलौना बनाकर खेले। यह तो भविष्य और भविष्य की कल्पना हुई।

विस्मित होते-होते जीवन से हार मानकर उस नारकीय अवस्था में पहुँच जाना, जिसे मृत्यु की अवस्था कहते हैं, वह भी तो जीवन नहीं हुआ। अपने को सँभालते हुए सुमन्त भैया ने सविता भौजी से कहा-

“जब हम दोनों आदमी चार आँखों से देख रहे हैं, तब यदि जीवन चूहे की तरह मिट्टी के नीचे छिपना चाहेगा, तो उसे ऐसा होने थोड़े देंगे।”

जैसे मुसहर का बच्चा मिट्टी के नीचे बने बिल में चूहे के साथ चूहे के बच्चे को भी पकड़कर खिलौना बना लेता है और मूसरी को गोबर सुँघा-सुँघाकर जीवन देता रहता है, चाहे वह फिर मूसरी से टुसरी ही क्यों न बन जाए, वैसा ही सुमन्त भैया के मन में हुआ।

पत्नी के विचार को देखकर-सुनकर सुमन्त भैया उस सीमा-रेखा पर पहुँच गए, जहाँ पहुँचने के बाद मनुष्य अपने जीवन-चक्र में अपने को समेटते हुए दिशा निर्धारित करता है। वह अपनी हार को अंतिम हार

नहीं मानता, बल्कि हरण हुई शक्ति को भी फिर जीवन देता है। खोया-भटका जीवन भी कभी न कभी राह पाएगा ही। यही उचित भी होगा। सुमन्त भैया उस सीमा पर पहुँचे, यानी वैदिक सीमा पर, जहाँ जीवन-पद्धति का दिशा-निर्देश मिलता है। वैदिक सीमा पर पहुँचते ही सुमन्त भैया के मन में संकल्प का उदय हुआ। इसी बीच सविता भौजी भी अपने को संकल्पित करती हुई गाने लगीं-

"साथी हाथ मिलाना, एक अकेला थक जाए..." ❑

बाग-बगिया

☰

कौशलपुर गाँव के हजारों ग्रामवासियों में सोमेश्वर बाबा भी एक हैं। उन्हें सोमेश्वर बाबा कहे जाने का कारण यह है कि उनकी उम्र साठ वर्ष से ऊपर हो चुकी है। इसलिए गाँव के अधिकांश बच्चे, देखे-अनदेखे या जाने-अनजाने, उन्हें 'बाबा' कहते हैं। बढ़ी हुई उम्र के कारण कोई उन्हें 'चाचा' कहता है, तो कोई 'भैया' भी। यों जब सोमेश्वर बाबा अपने जीवन को समुद्र की गहराई नापने वाले 'फैदम' से नापते हैं, तब परिवार के भीतर उन्हें ऐसा माप नहीं मिलता, जिसमें वे अपने वंश-परिवार, संतान और पोते-पोतियों के बीच अपने को देख सकें। साथ ही समाज के बीच भी उन्हें यह देखने की इच्छा होती है कि समाज ने उन्हें किस दृष्टि से 'भैया' से 'बाबा' तक मान लिया है।

लोगों के काम जैसे लोगों की दृष्टि में बदलते हैं, वैसे ही संबंधों में घट-बढ़ भी होती है। लेकिन समाज के बीच सोमेश्वर बाबा वैसे बाबा नहीं हैं, जो ताड़ी-दारू पीकर सड़क की नाली में गिरे-पड़े रहें और फाग-जोगीरा गाते फिरें। बहुरंगी बाग-बगीचे की तरह सोमेश्वर बाबा के पास समाज का भी एक बाग-बगीचा है, जिसमें खट्टे सरही से लेकर मीठे मिश्रीभोग तक हैं। बात बस इतनी ही है कि 'हाँ' और 'नहीं' के बीच जीवन का निर्णय छिपा रहता है।

सोमेश्वर बाबा परिवार और समाज के बीच अपनी समझ से समान

रूप से जुड़े हुए हैं। इसी कारण समाज का बंधन उन्हें इतनी कसकर पकड़े हुए है कि अपने परिवार के भी अनेक काम ऐसे हैं, जिनसे कुछ दूरी बनाकर वे अपनी जीवन-यात्रा निभा रहे हैं। इसी क्रम में परिवार के बाल-बच्चों के विवाह भी हैं। अपनी संतान तक सोमेश्वर बाबा ने विवाह-पद्धति को उसी मर्यादित रूप में निभाया, जिस रूप का गुणगान आज भी समाज में है। लेकिन व्यवहार की पद्धति क्या बन गई है, यह भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह भी है। जो मंत्र-सुमंत्र की पद्धति बनकर वेद के रूप में समाज में समाई हुई है, वह भी तो है ही। यहाँ एक प्रश्न मन में आ सकता है कि 'वेद क्या है?' वेद तो वही है न, जो जीवन-पद्धति को सुंदर और सार्थक बनाए। चाहे प्रतिशत का हिसाब हो, चाहे रुपये के आना-पाई का हिसाब हो, चाहे सेर के असेरा-पौआ का हिसाब हो, समाज भी तो उसी बाट-तराजू से नापा जाएगा कि कौन कितना आना, कितना कनमा, कितनी पाई या कितनी कनई है। हम देखते ही हैं कि जो सामने महाझूठा है, वह भी दिन भर में कभी-न-कभी थोड़ा-बहुत सत्य बोल ही लेता है। उसी तरह जो महासत्य बोलने वाला है, वह भी कभी-न-कभी थोड़ा-बहुत झूठ बोल ही देता है। इसी झूला-झूल के बीच हम भी झूल रहे हैं और पूरा समाज भी झूल ही रहा है। अब कहिए, कैसे कहेंगे कि समाज झूठा है या व्यक्ति-व्यक्ति ही झूठा है? दोनों जीवित हैं। मतलब, झूठ को भी आहार मिलता ही रहा है और सत्य को नहीं मिलता, यह बात भी नहीं है।

इसके साथ ही समाज के बीच अजीब-अजीब विचार और अजीब-अजीब लोगों की बनावट नहीं है, ऐसा भी नहीं है। वह भी है। हम देखते ही हैं कि जिन्हें लोग एक नंबर का समाज-विरोधी तत्त्व मानते हैं, वे भी जब अपने परिवार के बीच, यानी पत्नी और बाल-बच्चों के बीच रहते हैं, तब उपदेश देते हुए कहते हैं-

'बेटा, पहली रामायण लिखने वाले वाल्मीकि बाबा का नाम याद

रखना। वे भी कभी हमारी ही तरह डाकू थे। उनकी संतान भी तुम लोगों की तरह थी, लेकिन दुनिया में कोई माई का लाल हुआ, तो वे वाल्मीकि हुए, जिनकी भावुक भावना से समूचा संसार प्रभावित है।'

परिवार के बीच सोमेश्वर बाबा ने आध्यात्मिक व्यक्ति की तरह अपने जीवन और जीवन के व्यावहारिक संबंधों को निर्धारित कर लिया है। इसी से अपनी संतान तक और अगली पीढ़ी, यानी पोते-पोतियों की पीढ़ी तक के विवाह करा देने के बाद वे अपने को लगभग पूरा मुक्त समझ रहे हैं। तब भी यह मायावी दुनिया ही है। कब अँधेरा अधिक हो जाएगा और कब उजाला अधिक फैल जाएगा, इसका कौन ठिकाना। खैर, जो होगा या जो है, उसे गाँव-गाँव के बाबा जानें, उससे बाबा को क्या मतलब। उन्हें मतलब अपने परिवार से है, अपने समाज से है और अपनी पारिवारिक या सामाजिक पद्धति से है, यानी वैदिक पद्धति से। दान-दहेज लिए बिना सोमेश्वर बाबा ने अपने बेटे का विवाह किया था। वह भी ऐसे परिवेश में, जब सामाजिक वातावरण में, यानी मध्यवर्गीय परिवारों के बीच, दो करोड़ दहेज का बाजार बन गया था।

परिवार में जन्मी पोती बचपन से ही सोमेश्वर बाबा के पास रहती आई थी। बी.ए. पास करने के बाद पोती का विवाह हुआ। परिवार के यज्ञ-जैसे काम में सोमेश्वर बाबा भी स्वाभाविक रूप से सहभागी हो जाते हैं, इसलिए मंत्रणा में विचार देना उनके लिए आवश्यक था। आज भी क्या देखते हैं? जैसे एक ओर दान-दहेज का गरम बाजार है, वैसे ही दूसरी ओर गाँव-गाँव में जातीय या अंतर्जातीय विवाह बिना दान-दहेज के हो रहे हैं। भले ही आप उसे चोरी-छिपे किया गया विवाह कहिए, पर दान-दहेज मिटाने में वह अचूक दवा का काम तो कर ही रहा है। खैर, जो है, उससे सोमेश्वर बाबा को क्या मतलब। उन्हें मतलब अपने जीवन-यापन से है।

सोमेश्वर बाबा साहित्य-प्रेमी होने के कारण समाज-प्रेमी भी हैं।

उनकी स्पष्ट धारणा बन गई है कि साहित्य राजसत्ता और शासित समाज के बीच रामेश्वरम् के सेतु-बंध की तरह एक जोड़ने वाला बाँध है। इसलिए उनका अपना कर्तव्य भी योगदान करना है। जब दान योग-रूप में चलेगा, तभी योगदान पाने वाला समाज आगे की ओर प्रगति करेगा।

सीमा के पास का गाँव था। वैसे कितने गाँवों का नाम सीमा भी होता है। वहाँ साहित्यिक कार्यक्रम समाप्त होने के बाद उनके पास दो घंटे का खाली समय बचा था। उसी का उपयोग देखते हुए सोमेश्वर बाबा, साल भर पहले ब्याही गई पोती रूपेश्वरी के आग्रह को उचित समझकर, उसके ससुराल पहुँचे। जब वे उसके घर-द्वार को गौर से देखने लगे, तब वह कुछ सूना-सा अवश्य लगा। लेकिन पोती का मन बहुत खुश दिखाई पड़ा। उनके मन में वही पोती नाच उठी, जो सातवीं-आठवीं तक के पंद्रह बच्चों को दरवाजे पर पढ़ाया करती थी। उम्र के हिसाब से रसोई-भात से उसका उतना ही संबंध था, और वह भी केवल जवाबदेही भर, यानी कोई बोझ नहीं था। वही आज परिवार के भार के बीच जीने की राह से संतुष्ट है।

रूपेश्वरी के साथ एक संयोग हमेशा बना रहा था कि उसने बाबा की बाग-बगिया में बीस से ऊपर लोगों का परिवार रोज देखा था। इसलिए यदि ऐसे बड़े और भरे-पूरे परिवार की रीति-नीति और काम सँभालने की समझ हो, तो दो-तीन-चार लोगों के परिवार में वह जीवन को खेल की तरह सँभाल सकती है।

सोमेश्वर बाबा का मन मान गया कि अपने मन की खुशी ही लोगों के मन को खुशी से भर देती है। यों सामने कोई दूसरा, यानी समाज का कोई आदमी, ऐसा दिखाई भी नहीं पड़ा, जिससे वे गाँव का हाल-चाल पूछते। यदि अपनी पोती से कुछ पूछते भी, तो वह क्या कहती? वह तो स्वयं इस गाँव में आए अभी साल-डेढ़ साल ही हुई थी। पेड़-पौधों और कलमों से सजे गाँव में यह भी तो प्रश्न है कि जिस ननौर गाँव में,

अंधराठाढ़ी प्रखंड में, धरती के पानी का स्तर, यानी ट्यूबवेल-चापाकल के लिए, नीचे है, वह गाँव भी पेड़-पौधों से भरा है; और जिस गाँव में भूजल-स्तर ऊपर है, यानी धरती की सतह के पास है, वह तो स्वाभाविक रूप से अपनी सघनता दिखा ही सकता है। प्रश्न पेड़-पौधों से है कि वे धरती के भीतर कितनी गहराई तक जाकर अपने को खड़ा रख सकते हैं।

चाय पीकर जब सोमेश्वर बाबा घर लौटने को हुए, तब रूपेश्वरी अपने बच्चे को गोद में लिए सामने आकर खड़ी हो गई। उठकर खड़े हुए सोमेश्वर बाबा प्रतीक्षा कर रहे थे कि पोती अपना कुछ दुख-कष्ट कहेगी। लेकिन चाय पीते समय रूपेश्वरी ने उन्हें अपने आम के पेड़ पर लगे फल दिखा दिए थे। चापाकल था, तीन कोठरियों का पक्का घर था, जो अभी रहने लायक तो हो गया था, पर पूरी तरह बना नहीं था। उनके मन में आया कि शायद रूपेश्वरी विवाह के बाद अपने गाँव को, यानी मायके के गाँव को, जैसे बेटियाँ भूल जाती हैं, वैसा ही कुछ हो गया है। यह स्वाभाविक भी है। आज का दिन कैसे बिताऊँगी, बस इतना ही तो विचार करना है। कदम उठाकर जब सोमेश्वर बाबा आगे बढ़े और रूपेश्वरी की ओर देखा, तभी रूपेश्वरी का मुँह खुला। वह बोली- “बाबा, अम्रपाली आम मुझे भी दीजिएगा।”

सोमेश्वर बाबा को अचानक याद आया। जिस समय रूपेश्वरी खेत-पथार, बाड़ी-झाड़ी में घूमती-फिरती थी, यानी तीन वर्ष पहले, उस समय की बाड़ी-झाड़ी अब नहीं रही। पहले के पाँचों अम्रपाली आम के पेड़ सूख गए। समाज के बीच गलत दिशा-निर्देश के कारण ऐसा हुआ। तीसरे साल जो पेड़ लगाए हैं, उनमें कुछ-कुछ फल आया है। वे बोले-

“बहुत बढ़िया।”

रूपेश्वरी के मन में तीन साल पहले का अम्रपाली था या अभी का? उन्हें याद आया कि रास्ते में, यानी बच्चे को डॉक्टर के यहाँ ले जाने के

क्रम में, ससुराल से मायके आते हुए उसने सौ से ऊपर अम्रपाली आम लगे देख लिए थे। तभी रूपेश्वरी ने कहा-

"हमारे घर में कलकतिया आम है, पर खाने वाला कोई नहीं। मुझे भी परहेज ही है। दस-पंद्रह अम्रपाली आम मुझे भी भेज दीजिएगा।"

सोमेश्वर बाबा 'बहुत बढ़िया' कहकर आगे बढ़े। वे ऐसे रास्ते से आगे बढ़े, जिससे वे जीवन में पहली बार जा रहे थे। इसलिए गाँव से आगे बढ़ते ही, यानी पोती के ससुराल से आगे बढ़ते ही, गाँव के साथ पोती भी उनके मन से ओझल हो गई। ओझल होती भी कैसे नहीं? एक तो अपने किसानी जीवन का भूमि-कर्म देखकर उनका मन प्रसन्न था ही, ऊपर से इन दिनों की धान-रोपनी ने मन को और भी अपनी ओर खींच लिया। यही तो सजग रहना हुआ।

आषाढ़ महीने के आगमन के साथ बंगाल की खाड़ी से उठी मानसूनी हवा कालिदास के मेघदूत की तरह तीन दिन पहले से आकाश में फैली हुई थी। कभी-कभी रिमझिम पानी भी हो जाता था। इसलिए अपने को बूंदाबांदी से बचाते हुए यदि अपनी कुटिया पर समय से पहुँच जाएँ, तो दुनियादारी से निश्चिंत हो जाएँगे, इसी चाह में सोमेश्वर बाबा थे।

संयोग से पवन भूत नहीं, दूत बनकर साथ-साथ चल ही रहा था। सूर्यास्त होते-होते सोमेश्वर बाबा अपनी कुटिया पर पहुँच गए। ❑

विश्वास-पात्र

☰

जैसे पवित्र मिट्टी और पवित्र जल से धोने के बाद जल-पात्र, यानी लोटा, कमंडल, गिलास आदि, स्वयं पवित्र होकर अपने भीतर के जल को भी पवित्र पेय बना देते हैं, वैसे ही पवित्र कर्मों से मनुष्य भी अपने जीवन को पवित्र बनाकर पवित्र पात्र या विश्वास-पात्र बनता है और समाज या लोगों के बीच अपने जीवन का परिचय देता है। इसी इलाके में ऐसे ही दो पात्र योगेश्वर और जुगेसर भी हैं।

योगेश्वर और जुगेसर हमउम्र थे, इसलिए लगभग एक ही तरह के परिवेश में दोनों ने जीवन के आरंभिक कदम उठाए। यों दोनों के घर दो अलग-अलग गाँवों में, लगभग दो कोस की दूरी पर थे।

मैट्रिक के परीक्षाफल से योगेश्वर का नाम पूरे इलाके में प्रसिद्ध हो गया। कारण यह था कि पूरे बिहार की बोर्ड परीक्षा में योगेश्वरजी ने चौथा स्थान प्राप्त किया था। यों आज अनेक प्रकार के निजी शिक्षण संस्थान भी चल रहे हैं, लेकिन उस समय ऐसी व्यवस्था नहीं थी, खासकर गाँव-घर में। खैर, जो था या जो है, यहाँ चर्चा योगेश्वरजी की है। चौथा स्थान प्राप्त करने वाले छात्र के रूप में योगेश्वरजी की पहचान बनी। बीसवीं सदी का छठा-सातवाँ दशक चल रहा था, यानी साठ-सत्तर के दशक के बीच का समय था। सरकारी शिक्षण-व्यवस्था के अनुसार योगेश्वरजी पटना साइंस कॉलेज में पढ़ने योग्य विद्यार्थी थे, लेकिन पारिवारिक स्थिति आर्थिक दृष्टि से वैसी नहीं थी। पढ़ने की ललक योगेश्वरजी में बनी

ही रही।

संयोग कहिए या सौभाग्य, अपने इलाके में आर.के. कॉलेज, मधुबनी, देव-मंदिर की तरह प्रतिष्ठित था। आज का परिवेश कुछ आगे बढ़ गया है, इसलिए वह बात आज अनुभव से बाहर की लग सकती है। लेकिन उस समय, यानी अपने स्थापित जीवन के आरंभ से ही आर.के. कॉलेज की विशेषता यह थी कि जो विद्यार्थी कॉलेज में पढ़ना चाहता, उसका नामांकन हो ही जाता। एक तो पचास-साठ के दशक में गिने-चुने कॉलेज थे, उसमें आर.के. कॉलेज का इतना योगदान तो रहा ही कि वह एक विशाल क्षेत्र, यानी भारत सहित नेपाल के विद्यार्थियों के लिए भी पढ़ने-लिखने का आश्रय-स्थल बना।

योगेश्वरजी ने आर.के. कॉलेज से फिजिक्स विषय में बी.एससी. ऑनर्स किया। अच्छे विद्यार्थी होने के कारण उनके परीक्षा-परिणाम पर कभी धब्बा नहीं लगा। धब्बा न लगने का अर्थ यह कि कोई-कोई विद्यार्थी ऐसा होता है, जो पहले साल फर्स्ट डिविजन लाता है और दूसरे साल फेल हो जाता है। उसी तरह कोई विद्यार्थी पहले साल फेल होता है और दूसरे साल फर्स्ट डिविजन में आ जाता है। योगेश्वरजी के साथ ऐसा नहीं हुआ। बोर्ड से लेकर विश्वविद्यालय तक योगेश्वरजी का परीक्षा-परिणाम लगातार स्तरीय रहा।

यों पढ़-लिख लेने के बाद अपने भविष्य को लेकर योगेश्वरजी के मन में जो अनुमान रहा होगा, वह भी उस समय के परिवेश के अनुरूप ही रहा होगा, क्योंकि मध्यवर्गीय परिवारों की आकांक्षा तब कॉलेज शिक्षक या प्रोफेसर से आगे नहीं पहुँचती थी। खैर, जो भी रहा हो, योगेश्वरजी इतने जीवटवाले तो थे ही कि एल.एस. कॉलेज से एम.एससी. में अच्छा परिणाम लाए। जिस परिवेश की चर्चा है, उस समय लंगट सिंह कॉलेज की प्रतिष्ठा सचमुच आकाश छूती थी। जैसे योग्य शिक्षक थे, वैसी ही शिक्षण-व्यवस्था भी थी। आज का परिवेश चाहे जैसा हो।

बेरोजगारी तो पूरे देश में फैली हुई थी। यदि ऐसा नहीं था, तो विज्ञान विषय के ग्रेजुएट रेलवे स्टेशन के टिकट मास्टर कैसे हो जाते थे? खैर, हजारों वर्ष की गुलामी के बाद अपने स्वतंत्र देश की यह नई स्थिति थी। एम.एससी. करने के कुछ ही दिनों बाद योगेश्वरजी को सरकारी वैज्ञानिक संस्थान में वैज्ञानिक के रूप में सेवा करने का अवसर मिला।

जुगेसर ने भी कला के छात्र के रूप में एम.ए. किया। योगेश्वरजी की ख्याति जुगेसर तक पहुँच चुकी थी, जिससे जुगेसर उन्हें चेहरे से तो नहीं, पर नाम से अवश्य जान रहे थे। होता भी ऐसा ही है कि जाने-माने लोगों का गुण अपनी ओर आकर्षित करता ही है।

एम.ए. और एम.एससी. करने के बाद दोनों अपने-अपने जीवन में लग गए। योगेश्वरजी अपने जीवन में लग गए और जुगेसर भी अपने जीवन में लग गए। यों दोनों का जीवन, जीवन के दो अलग-अलग छोरों जैसा था। मतलब यह कि जहाँ योगेश्वरजी विज्ञान की संस्था में शासन के नियंत्रण में कार्यरत रहे, वहीं जुगेसर शासन से दूर जन-मानस के बीच रहे।

दोनों गाँवों के बीच दो कोस की दूरी होते हुए भी भौगोलिक दृष्टि से दोनों गाँवों की दूरी बनी ही रही। गाँव भी अपने बनने-बनने में गाँववासियों की कारीगरी से ही बनता है। मतलब यह कि हमारे यहाँ आरंभ से ही जीवन-क्रिया विभाजित होती आई है। उसी से जातीय विकास का खंडित रूप भी बनता आया है। खेती-बारी हो या पशुपालन, एक ही गाँव-समाज में कुछ विशेष जातियों की जीविका उसी कर्म से जुड़ी रही है और आज भी है, तो कुछ जातियाँ उसी कर्म को, यानी उस कर्म-आधारित जीवन को, हेय दृष्टि से देखती भी रही हैं। यहाँ दोनों पक्ष हैं। यानी जो पक्ष हेय दृष्टि से देख रहा है, वह तो देख ही रहा है; साथ ही दूसरा पक्ष, जिसे हेय दृष्टि से देखा जाता है, वह भी सामाजिक व्यवस्था के अनुसार अपने को हेय मानता रहा है।

जमीन का मर्म समझने वाली कुछ जातियाँ आरंभ से रही हैं और आज भी हैं। मतलब यह कि गाँव की सभी जातियाँ एक ही स्तर की नहीं हैं। जहाँ जिस समाज ने अपने जीवन को जिस दृष्टि से देखकर अपना निर्माण किया, उसी दृष्टि से वह आगे की ओर बढ़ता गया, लेकिन समाज के बीच, यानी गाँव-समाज के बीच, एक लंबी खाई अवश्य बन गई। वह यह कि कुछ जातीय समूह शिक्षा के क्षेत्र में आकाश छू चुके हैं, तो कुछ आर्थिक क्षेत्र में। और भी बहुत बातें हैं, समस्याएँ भी हैं, पर वे सब अभी नहीं। अभी बस इतना कि योगेश्वरजी विज्ञान की नई-नई खोजों के बीच रहे, तो जुगेसर खेत से जुड़े जीवन के बीच।

पैंतीस-चालीस वर्ष की सेवा के बाद योगेश्वरजी सेवा से निवृत्त हुए। पैंसठ वर्ष की अवस्था में गाँव में रहने का विचार उनके मन में इतना प्रबल हो गया कि उन्होंने मन में रोप लिया कि अब गाँव में ही रहूँगा। इसलिए उन्होंने गाँव में रहने के लिए घर बनवाया और अपनी घराड़ी भी बनाई। योगेश्वरजी का पहले का जो घर-बाड़ी था, वह घनी बस्ती के कारण संकीर्ण हो चुका था।

गाँव आने के बाद, यानी गाँव में रहने लगने के बाद, तीन-चार वर्ष तो वे घर-बाड़ी बनवाने में व्यस्त रहे। इसलिए गाँव-घर की सुध-बुध उनसे दूर रही। लेकिन जब घर-बाड़ी से निवृत्त हुए, तब उन्होंने गाँव की ओर दृष्टि उठाकर देखा, तो समझ ही नहीं पाए कि गाँव रावण की लंका जैसा है या दशरथ की अयोध्या जैसा, कृष्ण के वृंदावन जैसा है या राम के वन जैसा, सीता के साकेत जैसा है या पाताल से आकाश जैसा।

योगेश्वरजी का जन्म जुगेसर से पूरा साल तो नहीं, पर कुछ महीने अवश्य बाद हुआ था। परिवार की दृष्टि से दोनों का जीवन एक ही तरह के परिवार में गुजरा था, यानी किसान परिवार में। जाति के भीतर भी योगी से लेकर सुविधाभोगी तक हैं, ऐसा नहीं है कि नहीं हैं। खैर, जो है, वह अभी नहीं। अभी योगेश्वरजी की बात, जो बचपन से ही प्रतिभावान

स्वभाव के थे। गाँव के स्कूल में जब वे पढ़ते थे, तभी दूसरी कक्षा से छलाँग लगाकर शिक्षक ने उनकी प्रतिभा देखकर उनका नाम चौथी कक्षा में लिख दिया। इससे योगेश्वर स्कूल में जुगेसर से आगे हो गए। जुगेसर जैसे साल-दर-साल कक्षा बढ़ाते गए, वैसे ही बढ़ते हुए गाँव के स्कूल से एम.ए. तक पहुँचे। लेकिन दो बैच आगे हो जाने से योगेश्वरजी ने जुगेसर से दो बैच पहले एम.एससी. कर लिया।

आज जीवन की चौथी अवस्था में दोनों पहुँच ही गए हैं। संयोग ऐसा बना कि योगेश्वरजी वैज्ञानिक दृष्टि का सूत्र पकड़कर समाज का साहित्य रचना चाहते हैं, तो जुगेसर समाज की जीवन-क्रिया के आधार पर साहित्य रचना चाहते हैं।

दूर-दूर से जैसे योगेश्वर जुगेसर को जानते थे, वैसे ही जुगेसर भी योगेश्वर को जानते थे। यों जुगेसर के मन में यह विचार घर नहीं किए हुए था कि योगेश्वरजी के बाल्यकाल का गुण, यानी दूसरी कक्षा से चौथी कक्षा में छलाँग मारना, साधारण प्रतिभा नहीं, बल्कि भारी बौद्धिक उछाल था। बौद्धिक थर्मामीटर से ही जीवन और जगत का तापमान नापा जाता है।

यह मिथिलांचल है। कहा भी जाता है कि साधारण भुन्ना भी रोहू से दूना होता है। यहाँ रोहू को राहु ग्रह नहीं समझना चाहिए। मिथिलांचल में चाहे जितने कम साहित्यिक कार्यक्रम क्यों न हों, दूसरी भाषाओं के क्षेत्रों से अधिक ही होते हैं। जैसे साहित्यिक क्षेत्र में विचरण करने की ललक योगेश्वर के मन में उठी, वैसे ही जुगेसर के मन में भी थी। साहित्यिक कार्यक्रमों में एक-दूसरे का चेहरा आमने-सामने होता ही रहता था। यों सामान्य रूप से दोनों के बीच कुशल-क्षेम भी होने लगा था। लेकिन जिस आत्मीय कुशल-क्षेम की आवश्यकता थी, वह नहीं हो रही थी।

जुगेसर के मन में एक अविस्मरणीय प्रसंग बसा हुआ था। एक

उच्च कोटि के साहित्यिक कार्यक्रम में दोनों थे। अपने व्यवहार के अनुकूल जुगेसर पान की पीक फेंकने की सुविधा का ध्यान रखकर सभा में किनारे की जगह पकड़कर बैठते थे। योगेश्वरजी मंच के अध्यक्ष भी बने और सम्मानित भी किए गए।

अब तक हमारा जो समाज रहा है, उसमें जातीय बंधन की घुरछी अमटी के काँटे की तरह लगी हुई है। उसे एक ओर से छुड़ाइए, तो दूसरी ओर पकड़ लेगी। योगेश्वरजी तेज दृष्टि वाले थे। सभा का व्यवहार देखकर वे अपने-आप में कुपित हुए। सभा में 'शब्द-गुण' का जाल चल रहा था। वहाँ योगेश्वरजी अपने को निर्गुण-निरविचारी जैसा पा रहे थे। निर्गुण-निरविचारी वह हुआ, जो अपने गुण-अवगुण को कहीं छिपाता नहीं। पानी के बीच, यानी पोखर, नदी आदि में, डुबकी-उतराई के खेल में खेल के बीच ही हरदा बजा दी जाती है।

सभा के बीच से उठकर योगेश्वरजी किनारे बैठे जुगेसर के पास आकर खड़े हो गए। वे शब्दों के उस जाल के संबंध में उनसे मंत्रणा करना चाहते थे। भैया, पैंट पहनने वाले को यदि यह क्षोभ हो कि धोती पहनने वाला बैठा-बैठा बात कर रहा है और पैंट पहनने वाला खड़ा है, तो यह वस्त्र का दोष हुआ या पहनने वाले का? योगेश्वरजी को पास देखकर जुगेसर ने, चूँकि साहित्यिक कार्यक्रम बैठे-बैठे ही चल रहा था, बैठकर मंत्रणा करने के भाव से उन्हें बैठने का संकेत किया। इस पर योगेश्वरजी फुलपैंट के कारण अपने को छात्र की तरह खड़ा ही रखे रहे। वे बोले- "हम लोगों में बैठने-उठने का विचार वस्त्र पर भी निर्भर करता है।"

जुगेसर बोले- "हाँ, वह तो करता ही है।"

योगेश्वरजी सभा के अध्यक्ष थे, इसलिए उन्हें अध्यक्षता करनी थी। सभा के बीच से बार-बार बुलावे और चिट्ठियाँ आने लगीं। विचार में पूर्णता आई भी नहीं थी कि योगेश्वरजी बोले-"आगे बातचीत होती रहेगी।"

वहीं से दोनों एक-दूसरे के विश्वास-पात्र बनकर साथ-साथ चल रहे हैं। अनेक साहित्यिक कार्यक्रमों में दोनों एक साथ हुए भी हैं और आगे भी होते रहेंगे।

योगेश्वरजी मंच पर पहुँच गए, लेकिन दृष्टि का जो खिंचाव दोनों के बीच हुआ था, वह उसी तरह मंच पर भी जीवित रहा, जैसा किनारे बैठे, यानी सभा की बगल में बैठे जुगेसर के भीतर जीवित रहा। हरि अनंत, हरि कथा अनंता है ही, वहाँ केवल नाम देखकर राम का रटन क्यों किया जाए। ❑

विचार की टिटकारी

हम समाज को आज जिस रूप में देखते हैं, वह बहुत पहले से, यानी उस समय से बनता आया है, जब लोग नदी-नालों के किनारे बसकर समाज बनाने लगे। यह कहना ठीक नहीं होगा कि किस दार्शनिक विचार के अनुकूल समाज का निर्माण हुआ, लेकिन इतना अवश्य हुआ कि मनुष्य ने अपने जीवन-निर्वाह की आवश्यकता के अनुसार समाज का निर्माण किया।

जब समाज बनता है, तब सामाजिक मंच बनने की स्थितियाँ भी अपने आप बन जाती हैं। इसी से अनेक मंच बनते आए हैं। कहीं विचारजीवी हैं, कहीं विचारसेवी; कहीं ताश-शतरंज का मंच है, कहीं गीत-संगीत का मंच, कहीं योग-भोग का मंच; उसी तरह कहीं कौआ-ठुट्ठी का मंच, यानी मुगल-पठान की तरह खींचतान और तकरार का मंच, और कहीं खेल-पचीसी का मंच भी बनता रहा है। वे बने भी रहे हैं। उनमें समय के अनुसार तोड़-जोड़ भी होता आया है। खैर, जहाँ जो हो, उससे सुगमपुर भी अछूता नहीं रहा। दूसरे गाँवों जैसी ही शक्ल-सूरत में सुगमपुर भी है। एक तो गाँव, वह भी मिथिला का गाँव, जिसमें जैसे उर्वर भूमि है, वैसे ही पहाड़ की चोटी पर शिवजी के माथे की तरह पानी भी है। तब यदि समाज का निर्माण एकरंगी से बहुरंगी न हो, तो यह भी प्रकृति के विरुद्ध ही होगा। प्रकृति के विरुद्ध यह कि आकाश से पाताल तक, जैसे भूमि से ऊपर आकाशोन्मुख सात लोक हैं, यानी विचार के

अनुसार सात स्तर हैं या सात सीढ़ियाँ हैं, वैसे ही भूमि से नीचे पाताल की ओर भी सात तल हैं। इन्हीं चौदहों भुवनों के विचार के बीच हम भी हैं और यहाँ का समाज भी है।

एक ओर जहाँ भगवान और भक्त के बीच अभक्त भाव रखने वाले लोग समाज में रहते हैं, वहीं दूसरी ओर दोनों के बीच, यानी भगवान और भक्त के बीच, विभक्त भाव रखने वाले लोग नहीं हैं, ऐसा भी नहीं है। वे भी हैं।

दूसरे गाँवों की तरह सुगमपुर गाँव में भी सैकड़ों लोगों के बीच, यानी एक-दूसरे के बीच, दोस्ती भी है। कुछ सनातनी विचार के आधार पर बनी विचार-मैत्री, तो कुछ व्यावहारिक रूप में, यानी क्रिया के अनुरूप क्रियागत दोस्ती। इसी तरह की दोस्तियों के बीच धनछोह भैया और धनमोह भैया के बीच भी दोस्ती है। खाने-पीने से लेकर एक जगह बैठकर विचार-विमर्श करने और ताश-शतरंज खेलने तक की दोस्ती दोनों के बीच है। यों दोनों की उम्र आधी से अधिक बीत चुकी है। यहाँ 'खपने' का अर्थ चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण का खपना नहीं समझना चाहिए। यहाँ इतना ही समझना है कि सौ वर्ष की जिंदगी में, यानी जिंदगी के सौ प्रतिशत या सोलह आने रूप में आधी उम्र। इस हिसाब से दोनों दोस्त पचास वर्ष से ऊपर के हैं। इसलिए इस धोखे में नहीं रहना चाहिए कि पुराना जीवन, यानी हमारे पूर्वजों का जीवन, चालीस वर्ष के बाद ही घपचालीस हो जाता था, जहाँ सौ वर्ष की जिंदगी सपने के साथ कल्पित भी हो जाती है। ऐसा नहीं था। वह कुछ संजीवनी-सा जीवन चलाने वालों के बीच था और कुछ आसव-अरिष्ट सेवन करने वाले परिवारों के बीच। यहाँ गरीबी की चर्चा मत समझिए, यहाँ इतना ही समझिए कि हजारों वर्षों के गुलाम परिवार में हम लोगों का जन्म हुआ।

हम लोगों का अर्थ केवल अपने गाँवों का नहीं, पूरे देश की यही स्थिति थी। ऐसी स्थिति क्यों थी या इससे अच्छी स्थिति क्यों नहीं बन

सकती थी, उस कहासुनी की न आवश्यकता है, न वह पलटकर आएगी। आज की आवश्यकता यह है कि मनुष्य सबधर्मा और सबकर्मा बने, यानी सबके धर्म और कर्म को समझने वाला बने। हम इक्कीसवीं सदी के जीवन में बाल्यावस्था पार कर किशोरावस्था कहिए या जवानी की अवस्था, उसमें पहुँच चुके हैं। हम भी जवान हुए हैं, यानी हम अभी सीमा पर खड़े हैं। इसलिए दुनिया के बीच अपनी सीमा और सरहद भी देख लेनी चाहिए।

हमारे परिवारों की गतिविधि सनातनी है, इसलिए सिखाया जाता है, यानी आध्यात्मिक विचार का सूत्र दिया जाता है कि बेटा, जब दुनिया के बीच जन्म लिया है, तब सबसे पहले अपनी सीमा निर्धारित करो, फिर अपना कदम किस ओर उठाना है, उसे देख-सुन लो। यदि ऐसा नहीं करोगे, तो जानी हुई कथा है कि जैसे ध्रुव बचपन से ही एक टाँग पर खड़े होकर सतयुग से तपस्या करने लगे और आज भी हम समझ ही रहे हैं कि ध्रुव की तरह हम भी कलयुग में रहते हुए एक टाँग वाले तपस्वी बनेंगे और भगवान का दर्शन होगा।

ध्रुव का ध्रुवतारा भी है और ध्रुवहारा भी नहीं है, यह कैसे कहा जाए? दुनिया दो गोलार्द्धों के बीच बँटी है। दोनों ध्रुव, यानी दक्षिणी ध्रुव और उत्तरी ध्रुव, दोनों दिशाओं में हैं। सूर्य भी विशाल आकार में है ही। नब्बे डिग्री अक्षांश तक सूर्य का प्रकाश जाता है। नब्बे डिग्री अक्षांश प्रकाश की अंतिम पहुँच का छोर है। इसलिए बीच में जो विषुवत रेखा शून्य डिग्री अक्षांश पर स्थित है, वहाँ से लेकर ध्रुव तक सूर्य के प्रकाश को पहुँचने में समय भी लगता है और प्रकाश की शक्ति-पुंज में कमी भी होती जाती है। नब्बे डिग्री तक पहुँचते-पहुँचते, यानी घटते-घटते, छीजते हुए छह महीने का दिन भी होता है और छह महीने की रात भी होती है। यह हुई भूगोल की बात। लेकिन अपने समाज में जो विद्यापति बाबा ने कहा है कि जीवन का आधा हिस्सा, यानी साल के छह महीने हम लोग

सोते ही रहते हैं, तो क्या कोई हमें कुम्भकर्ण कहेगा? कुम्भकर्ण राक्षस वंश का था, हम लोग सूर्यवंशी हैं।

खैर, हम जैसे भी हैं, मिथिलावासी तो हैं ही। रात से सुबह तक मुँह में पान दबाए रहते हैं। तभी तो विद्यापति बाबा ने प्रसन्न होकर कहा है-

'मुँह का पान भी मलिन हो गया।'

एक ही गाँव के समाज में रहने के कारण धनछोह भैया और धनमोह भैया के बीच का संबंध अब तक कितनी ही बार टूटा भी है और सरही आम की पीपही की तरह कलमी आम की डाल से जुड़ते-जुड़ते एक भी बनता आया है। यों प्रकृति के अनुकूल इसके दोनों पक्ष हैं, जिनसे दुनिया का निर्माण होता है। इसलिए कल, यानी बीता हुआ कल, जो अनुकूल था, यानी सत्य था, वह बदलकर कहीं प्रतिकूल भी हुआ और कहीं अर्द्ध-प्रतिकूल भी। इसी से आज के परिवेश में कहीं अनुकूलता के कारण सत्य भी है और कहीं प्रतिकूलता के कारण असत्य भी है। इसलिए विचार की दुनिया में विखंडन होना स्वाभाविक है।

भैया! केवल आज ही नहीं, अपने समाज में आरंभ से ऐसी धारणा चली आ रही है कि बीती हुई बात पर, यानी बीती घटना पर, एक मुट्ठी राख डालकर उसे ढक देना चाहिए। यों इस विचार के भी दोनों पक्ष हैं। इससे अराजक स्थिति भी बढ़ेगी और विचार का क्षरण भी अवश्य होगा। लेकिन इससे धनछोह भैया या धनमोह भैया को क्या मतलब? मतलब यह है कि जब एक ही गाँव के समाज में हैं, एक जगह घर भी है, तो केवल गाँव के नहीं, पड़ोसी भी हैं। यह समझी हुई बात है कि यदि पड़ोसी से झगड़ा करके रहेंगे, तो डेढ़िया पर की सजमैन और कद्दू पर से भी मन हटाना पड़ेगा; नहीं तो नदी किनारे की खेती की तरह कब है और कब तक रहेगी, इसका कोई ठिकाना नहीं। इससे अच्छा क्या यह नहीं कि जैसे बुद्धदेव ने अंगुलिमाल को सिखा-पढ़ाकर अपना चेला बना लिया,

जिसने जीवन भर अपने को बुद्धदेव का शिष्य मानकर बुद्धितत्त्व, यानी बुद्धि का व्यावहारिक तत्त्व, प्राप्त किया और रत्नाकर की तरह अमर हो गया।

एक ही सीमा-सरहद के गाँव में रहने के कारण मुझे तो दोनों के बीच रहना ही पड़ेगा। इसलिए दोनों के साथ एक-सा संबंध है, यानी एक ही रंग में रँगा हुआ। भोर की चाय पी ही रहा था कि भदोहीवाली भौजी आकर बोलीं-

“एक बात सुनी है, बौआ?”

भौजी की बात सुनकर मैं उलझन में पड़ गया कि उन्होंने कुछ बताया नहीं और उलटे पूछ ही रही हैं। लेकिन इतना तो मैं हरिमोहन भैया की तरह मान ही रहा हूँ कि महाभारत जैसा विशाल भारत, जिसमें सैकड़ों श्लोक दृष्टिकूट हैं, रामचन्द्रजी का चित्रकूट नहीं, बल्कि समाज का दृष्टिकूट, गाँव के समाज में कूट, यानी पहाड़ की तरह फैला हुआ है।

बुद्धदेव की तरह ठहर-ठहरकर मैंने कहा-

“नहीं।”

भौजी बोलीं-

“जैसी धनछोह भैया की घरवाली है, वैसी ही धनमोह भैया की भी घरवाली है। दोनों ने खूब झोंटा-झोंटी की।”

स्त्रियों के बीच के झगड़े में मैं जाना नहीं चाहता, उसका कारण है। मेरी धारणा ऐसी है कि जो जिस परिवार में है, वह अपना दायित्व समझकर कर्तव्य की ओर बढ़े। यदि ऐसा नहीं होगा, तो वह नारी-जागरण को बाधित करना होगा। लेकिन यहाँ तो देवर-भौजी के बीच की बातचीत थी, इसलिए फागुन के फगुआ की धुन में मैंने कहा-

“भौजी, धनछोह भैया की पत्नी और धनमोह भैया की पत्नी ने यदि बाल नोच-नोचकर झगड़ा किया, तो इससे आपको क्या मिला?”

बोलते-बोलते बोल तो गया, लेकिन अपने मन में लगा कि गलती हो गई। गलती यह हुई कि आगे की बात सुनने का रास्ता मैंने स्वयं बंद कर लिया। लेकिन यहाँ तो देवर-भौजी के बीच की बातचीत थी, इसलिए एक हाथ इधर पड़े या एक हाथ उधर, बात वही होगी। अपना मोहिनी-मंत्र उच्चारित करते हुए मैंने फिर कहा-

"भौजी, जब दोनों की घरवाली, यानी धनछोह और धनमोह दोनों की, बाल नोच-नोचकर झगड़ा कर रही थीं, तब दोनों पुरुषों में से एक भी बीच-बचाव करने नहीं आया?"

भैया! समाज में सबने अपनी-अपनी दुनिया बना ही रखी है। उसी सीमा में, यानी भाई-भैयारी के बीच, भदोहीवाली भौजी ने अपने को खड़ा रखते हुए कहा-

"दोनों के पुरुष भी क्या पुरुष हैं? कार्बन कॉपी की तरह पुरुष की केवल नकल हैं।"

तभी चाय भी गिलास में सूख-सी गई, लेकिन विचार का जो रस मिल रहा था, उससे मन आनंदित था और चाय का रस भी जैसे मिल ही रहा था। अपने दायित्व, यानी दोनों के बीच के संबंध का दायित्व निभाने का विचार मन में उठा, इसलिए दोनों से मिलने का निर्णय किया। जिज्ञासु बनकर मैंने भौजी से पूछा-

"अपनी आँखों से देखा है, यानी दोनों के बीच बाल नोच-नोचकर झगड़ा हुआ है, या किसी के मुँह से सुना है?"

भौजी मंच की स्त्री हैं, यानी स्त्रियों की सभा के मंच की वक्ता भदोहीवाली भौजी हैं। जैसे ही मुँह से बात निकली कि जेठ की तपती धरती की तरह, जो वर्षा के पानी को धरती तक पहुँचने से पहले ही सोख लेती है, वैसे ही भदोहीवाली भौजी ने मेरे विचार को सोखते हुए कहा-

"ऐसी जो स्त्रियाँ हैं, जो इतना भी पति से पूछे बिना बाल नोच-

नोचकर झगड़ा करती हैं, आप ही कहिए, क्या यह उचित हुआ?”

मुँह की पंचायती से समाज की पंचायती थोड़े होगी। समाज की तो अपनी धारा है। उसी सामाजिक धारा में देखना पड़ेगा। वहाँ जल्दबाजी में कुछ बोलना उचित नहीं समझकर मैं चुप ही रह गया। ❑

लत

☰

दूसरे दिनों की तरह सोकर उठने के बाद अपने नित्यकर्म से निवृत्त होकर दरवाजे पर आया ही था कि पत्नी चाय लेकर आ गई। रात भर साथ रही संगिनी की बात यहाँ जीवन की खोई हुई क्रिया के पक्ष से है। वह पत्नी ही थी, इसलिए परायी स्त्री की तरह मन में कोई विकार नहीं उठा। इसे नियमबद्ध क्रिया समझकर पत्नी ने चौकी पर चाय रखी और मुड़कर तुरंत आँगन की ओर चली गई। आँगन की ओर जाती भी क्यों नहीं? जीवन-संगिनी अपने जीवन के साथ चलेगी, यानी जीवन से जुड़े कर्म को पकड़कर जब चलेगी, तभी तो अपना उद्धार कर सकेगी। क्या केवल मेरा मुँह देखकर चलते रहने से उसका उद्धार होगा? इसलिए मनुष्य मात्र में ऐसी गति अनिवार्य होनी ही चाहिए। जैसे मेरा अपना नियमबद्ध जीवन है, वैसे ही पत्नी का भी है। व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक, इन तीनों स्तरों पर जीवन चलता ही रहता है। व्यक्तिगत जीवन कैसे सामाजिक बने, यह दूसरा प्रश्न हुआ। इसी बीच चाय समाप्त होने को थी, यानी गिलास में तीन-चार घूँट चाय और थी। जैसे किसी की कोई चीज खो गई हो, उसी तरह जीतवारपुरवाली भौजी हाँफती-फूली दरवाजे पर आकर बोलीं-

“बौआ, रामविलास को पुलिस पकड़कर ले गई!”

जिस हड़बड़ी में भौजी बोलीं, वैसी हड़बड़ी मेरे मन में नहीं उठी। यह बात भी समझी हुई थी कि रमविलसबा और रूपललबा, दोनों शराब

पीकर चौक पर रंगबाजी करते फिरते हैं। इसके साथ मन में यह भी आया कि सरकार भी तो नशामुक्त राज्य बनाना चाह रही है, तब ऐसी घटनाओं का होना स्वाभाविक ही है। जब भूमि-मुक्ति का संघर्ष शुरू हुआ था, तब आगजनी और मंदिर-मस्जिद के झगड़े बढ़े थे। एक सीमा पर पहुँचकर वह समस्या शांत हुई, जिससे आगजनी और मंदिर-मस्जिद के झगड़े जैसी बातें भी शांत हुईं।

भौजी जिस ढंग से झपटकर बोल रही थीं, वैसा ही यदि मैं नहीं बोलता, तो भौजी का दूसरा झपट्टा भी सुनना पड़ता। इसलिए मैं भी उसी तरह बोला-

"भौजी, रमविलसबा को पुलिस ने पकड़ लिया, और रूपललबा को क्यों छोड़ दिया?"

झटके से भौजी बोलीं-

"जिसके ऊपर केस होगा, पुलिस उसी को पकड़ेगी न, या मुझे और आपको पकड़ लेगी?"

मैंने कहा-

"भौजी, आप गाँव की हाकिम हैं, इसलिए पुलिस छोड़ देगी, लेकिन मैं तो वैसा नहीं हूँ। मुझे तो पकड़ ही लेगी।"

यों भौजी के मन में यह बात ठहरी कि रमविलसबा मजदूरी करके परिवार चलाता है, पर इसी बीच रूपललबा के साथ उसका ऐसा साथ बन गया है कि वह भाँग-गाँजा के साथ शराब भी पी लेता है। रूपललबा का साथी है ही, यानी नशेड़ी का साथी, इसलिए उसी के भरोसे रामविलास भी अपना रोब दिखाता है। लेकिन यह बात जीतवारपुरवाली भौजी भी जानती थीं और दूसरे लोग भी जानते ही हैं कि रमविलसबा रूपललबा के बल पर रंगबाजी करता है। नहीं तो वैसे-वैसे रंगबाजों को लोग नशे की गंध की तरह नाक से पहचान लेते। अपने विचार को मजबूत

करते हुए जीतवारपुरवाली भौजी बोलीं- “आपको पुलिस पकड़ेगी? पहले अपनी चाल देखिए।”

यों जीतवारपुरवाली भौजी के विचार में कुछ दम जान पड़ा, क्योंकि सब जानते हैं कि बुरी वृत्ति अपनाने वाले आदमी को पाप लगता ही है, इसलिए वह नरक का भागी है। लेकिन गाँव-समाज में यह भी तो देखते हैं कि लोग दूसरे की चीज चुरा भी लेते हैं और चोरी की चीज का उपयोग भी लोगों के सामने ही करते हैं। लेकिन जब उनके ऊपर चोरी का मुकदमा होता है, तो वे चोर के आरोप से मुक्त होकर साधु बन जाते हैं। मगर यहाँ वैसी बात नहीं थी। यह तो जीतवारपुरवाली भौजी से बातचीत थी, इसलिए हार भी कैसे मान लेता। मैंने कहा-

“आपके विचार को मैं सोलह आने ही नहीं, चौंसठ पाई भी मानता हूँ, लेकिन आप ही कहिए कि आपको पुलिस का डर नहीं लगता, तो मुझे क्यों लगे?”

बोलने-बतियाने में दक्ष स्त्री होने के कारण जीतवारपुरवाली भौजी अपने को उसी तरह तराशती थीं, जैसे मिट्टी के तेल, यानी मटिया तेल को साफ करने वाली मशीन उसे साफ करके उपयोगी तेल बना देती है। बोलते-बोलते, यानी बोलने वाली होने के कारण, जीतवारपुरवाली भौजी भी शब्दों को साफ करने वाली थीं। इसलिए छोटे-बड़े शब्दों को मिलाने की कला भी उन्हें आती थी। जीतवारपुरवाली भौजी बोलीं- “आप तो दिन भर घर में घुसे रहते हैं, इसलिए गाँव का चक्कर-भक्कर थोड़ा समझेंगे, लेकिन मैं...।”

‘लेकिन मैं’ कहकर भौजी ने अपने मन का विचार रोक लिया। मुझे भी वैसा ही अवसर मिला, जैसे चूल्हे में राख से ढकी आग छिपी रहती है और आग खोजने वाला खुरचनी से खुरचकर आग बाहर निकालता है। उसी तरह मैंने कहा- “‘लेकिन मैं’ कहकर आपने जीभ क्यों समेट ली, यानी बोलना क्यों रोक लिया? क्या आपको भी डर लगता

है कि जैसे ही जीभ से निकलेगा, कोई कड़ी राख से रगड़कर खींच लेगा?”

अपनी समझ से मैं जीतवारपुरवाली भौजी को गाँव की वास्तविक स्थिति की ओर लाना चाह रहा था, लेकिन वे तो ऐसी उड़नवाज स्वभाव की थीं कि परिवार की कौन कहे, अपने देह-दशा की सुध-बुध भी भूल जाती थीं। जैसे अधिक बोलने वाले लोग बोलने की छिन्ना-भौकी जानते हैं, उसी तरह छिन्ना-भौकी मारकर जीतवारपुरवाली भौजी बोलीं-

“गाँव में कौन ऐसा आदमी है, जो जीभ खींच लेगा?”

जीतवारपुरवाली भौजी का विचार सुनकर मेरे मन में भी लगा कि भौजी का विचार ठीक ही है। कारण यह कि पुरुष की छाती पर चढ़कर स्त्रियों ने इतना साहस तो पा ही लिया है कि जैसे विचारवान पुरुष बेलगाम स्त्रियों से मुँह लगाने से कतराते हैं, वैसे ही बुद्धिमान लोग भी स्त्री को नाक पर चढ़ाने योग्य नहीं मानते।

नदी के पानी को रोकने के लिए जैसे मिट्टी के बड़े-बड़े चेक बाँधकर घेरा जाता है, वैसे ही बात को घेरते हुए मैंने कहा-

“भौजी, गाँव में जो लीला होती है, उसे तो गाँव के सब लोग जानते ही हैं। तब तो यही हुआ कि जो जितना धुर-फंद वाला है, वह उतनी ही अगली माँग पकड़कर बैठ जाता है।”

अपनी समझ से जो बात मैं भौजी से कहना चाहता था, उसे भौजी ठीक से नहीं समझीं, लेकिन उन्होंने अनुमान लगाया कि शायद मैं रमविलसबा को पुलिस पकड़कर ले गई, उसी बात को पूछ रहा हूँ। जीतवारपुरवाली भौजी बोलीं-

“स्त्री हूँ तो क्या मैं खाली बैठी हूँ? जैसे ही सुना कि रमविलसबा को पुलिस पकड़कर ले गई, तभी से उसके पीछे खोज-बीन में लग गई। अच्छा है कि अभी हम दो ही लोग हैं, नहीं तो गाँव में ऐसे उफान वाले

लोग हैं कि तिल को ताड़ बना देंगे और ताड़ को तिल भी बना देंगे।"

भौजी का विचार युक्तियुक्त लगा। सिर हिलाते हुए मेरे मुँह से भी निकला- "हाँ, वह तो है ही।"

भौजी थक गई थीं या मन से उचट गई थीं, यह तो वे ही समझतीं। लेकिन मन खोलकर बोलीं-

"बौआ, रूपललबे ने रमविलसबा को पकड़वाया है। क्या अभी गाँव में ताड़ी-दारू पीने वालों की कमी है? जैसे बच्चे मूसरी को पकड़कर उठा-उठाकर पटकते भी हैं और अधमरी हो जाने पर गोबर सुँघाकर जिंदा भी कर देते हैं, वैसे ही रूपलाल रामविलास को जेल से छुड़वाकर भी ले आएगा।"

बिना समझी हुई बात सुनकर जैसे आदमी को आश्चर्य होता है, वैसे ही आश्चर्य में पड़कर मैंने कहा-

"ऐं!"

'ऐं!' सुनकर भौजी को क्या मिला, यह तो भौजी ही जानें। लेकिन उनके मुँह के रुख से ऐसा लग रहा था जैसे मन के विचारों का घड़ा उलटकर उफन-उफनकर बहना चाहता हो। फिर भी मैंने अपना मुँह बंद ही रखा।

कुछ देर बाद जीतवारपुरवाली भौजी के मन में जैसे कोई छूटा हुआ विचार जागा। वे कसमसाती हुई बोलीं- "बौआ, अब जाने दीजिए। एक भूला हुआ काम याद आ गया।"

बिना सोचे ही मेरे मुँह से निकल पड़ा-

"क्या मैंने आपका हाथ-पैर पकड़ रखा है कि छोड़ूँ? अपने काम से आप भी जाइए और मैं भी जाता हूँ।"

भौजी चली गईं। मैं भी चाय पीकर, पान खाकर जब गाँव की ओर देखने लगा, तब समझ में आया कि बिना कदम बढ़ाए गाँव-समाज को

नहीं समझ पाऊँगा। लेकिन कदम भी तो कदम है। कोई समझ-बूझकर उठाया गया कदम होता है, तो कोई ऐसा भी हो जाता है जो बिना समझे-बूझे उठ जाता है।

एक तो सुबह का समाचार, दूसरे समाज के बीच जो परिवेश बन रहा था, वह मन को उद्वेलित कर ही रहा था। लेकिन आगे बढ़ते ही विचार उठा कि सबसे पहले राहगीर भैया से विचार-विमर्श करना अच्छा रहेगा।

मैं राहगीर भैया के यहाँ जाने के लिए निकला। दरवाजे से उतरते ही मन में उठा कि गाँव भी तो गाँव ही है। कोई दिन-रात हरि-भजन करते हुए हँसी-खुशी समय बिता रहा है, तो कोई माता-पिता या बाल-बच्चों के साथ अस्पताल के चक्कर लगा रहा है। कोई परिवारजन की सुख-समृद्धि के लिए घन-हथौड़ी चलाकर पत्थर तोड़ रहा है, तो कोई भगवान पर चढ़ाए हुए फूल को पानी में धोकर दोबारा-तिबारा बेच भी रहा है और शुद्ध को अशुद्ध तथा अशुद्ध को शुद्ध भी बना रहा है।

मन इतना भटक गया कि रास्ते की सुध-बुध भी नहीं रही, जैसे सब कुछ भूल गया हूँ। फिर भी इतना स्मरण रहा कि राहगीर भैया के यहाँ इतना आना-जाना है कि अभ्यास बन गया है। इसलिए बिना सुध-बुध के भी अभ्यास के बल पर राहगीर भैया के यहाँ पहुँच गया। राहगीर भैया के दरवाजे से थोड़ा दूर ही था कि राहगीर भैया बोले- “आओ-आओ, हिराय।”

राहगीर भैया की आवभगत सुनकर मन में लगा कि जैसे वे बातचीत के लिए किसी का रास्ता देख रहे थे। मैंने यात्रा को शुभ समझा। कहा- “भैया, पहले मेरा प्रणाम स्वीकार कर लीजिए, बाद में आगे की बातचीत होती रहेगी।”

शायद राहगीर भैया के मन में उठा कि हिराय प्रणाम का अर्थ ठीक से नहीं समझ रहा, इसलिए ऐसा बोला। विचार को मोड़ देते हुए राहगीर भैया बोले- “हिराय, गाँव का क्या हाल-चाल है?”

मैंने क्षुब्ध होकर कहा-

"भैया! क्या कहूँ, क्षुब्ध हूँ। चिंता में पड़ा हूँ कि जिस बात को गाँव का बच्चा-बच्चा समझ भी रहा है और देख भी रहा है कि रमविलसबा रूपललबा का पक्का चेला है, तब पुलिस ने रूपललबा को क्यों छोड़ दिया?"

अपनी समझ से मैंने यह इसलिए कहा था कि राहगीर भैया आगे बढ़कर कोई विचार की बात कहेंगे। लेकिन राहगीर भैया आगे बढ़कर बोले जरूर, पर बेल की दूसरी गाँठ से निकले फल की तरह बोले-

"हिराय! अभी इतना ही समझो, चौक-चौराहे और रास्ते-राहों में ताड़ी-दारू पीकर जो रंगबाजी होती थी, उस पर अच्छा अंकुश लगा है।"

राहगीर भैया क्या बोले, यह मैं ठीक से नहीं समझा, लेकिन सिर इस तरह घुमाकर मान लिया जैसे आगे कुछ और विचार सुनना बाकी हो। यह राहगीर भैया समझ गए। इसलिए बोले-

"हमारे यहाँ नशाखोरी का लंबा इतिहास है, हिराय। लेकिन वह अभी नहीं, दूसरे दिन सुनने के लिए रखो। अभी इतना ही समझो कि ऐसी लत, यानी नशाखोरी की लत, हमारे यहाँ वंशगत है। इसलिए जीवन-पद्धति में सुधार की आवश्यकता है।"

नशाखोरी हमारे यहाँ की वंशगत लत है, यह समझते ही मन जैसे भर गया। उठते हुए राहगीर भैया से मैंने कहा-

"भैया, अब चलता हूँ।" ❑

जीवन खटाई में पड़ गया

☰

अपनी-अपनी धारणा के अनुरूप हृदयनाथ भैया और विचारनाथ भैया, दोनों जब साठ वर्ष की उम्र के बाद सरकारी सेवा से निवृत्त हुए, तब गाँव आकर रहने लगे। यों अभी उन्हें गाँव आए केवल छह महीने ही हुए थे। दोनों के मन में अपनी-अपनी यह धारणा बनी हुई थी कि हमारे पूर्वजों ने जीवन को चार अवस्थाओं में विभाजित किया है, जो बालपन से वृद्धावस्था तक फैला है। साठ वर्ष के बाद चौथा पड़ाव आता है। उसे संन्यास अवस्था कहिए, संन्यास रूप कहिए या संन्यास आश्रम में अपने को संन्यासी मानिए। यों संन्यासियों के भी अनेक रूप हैं। कोई पहाड़ की गुफा में वास करता है, तो कोई घने वन में रहता है। उसी तरह कोई समाज के बीच सेवक-रूप में अपने को स्थापित करता है और कोई परिवार में बाबा बनकर अपने बाग की बागवानी करते हुए बगवार बना रहता है। खैर, जो जहाँ हैं, वहीं रहें। इससे हृदयनाथ भैया या विचारनाथ भैया को क्या मतलब? मतलब इतना ही है कि बचपन में, यानी पढ़ने-लिखने के दिनों में, जिस तरह उन्होंने मन में संकल्प रोपा था कि पहले डॉक्टरी पढ़ेंगे, इंजीनियरिंग पढ़ेंगे, सरकारी सेवा करेंगे, फिर बाद में, यानी सेवा-निवृत्ति के बाद, जिसे हम संन्यास-जीवन कह सकते हैं, उसमें समाज के बीच रहकर समाज की सेवा करेंगे।

जैसा संकल्प दोनों ने मन में लिया था, वैसा ही हुआ। हृदयनाथ भैया एम.बी.बी.एस. डॉक्टर बने और विचारनाथ भैया मैकेनिकल

इंजीनियर।

गाँव-गाँव में जैसे गिने-चुने विद्यार्थी डॉक्टर बनते हैं, वैसे ही इंजीनियर भी बनते ही हैं। पढ़ाई की दौड़ में न कभी हृदयनाथ भैया को और न कभी विचारनाथ भैया को प्रतियोगी परीक्षा का विशेष सामना करना पड़ा। सामान्य रूप से जैसे आई.एससी. बायोलॉजी डॉक्टरी के लिए अनिवार्य है, वैसे ही मैथमैटिक्स इंजीनियरिंग के लिए है। वह दोनों ने किया।

आज से चालीस वर्ष पहले डॉक्टरी और इंजीनियरिंग की जो पढ़ाई-पद्धति थी, उसमें कई गुना सुधार हो चुका है, जिससे पिछली पद्धति लगभग अप्रासंगिक-सी हो गई है।

समरसपुर गाँव में उस समय आठ-दस ऐसे परिवार थे, जो अपनी संपत्ति के बल पर अच्छी तरह जीविका चलाते थे। बाकी लोग हँसुआ-फरसा और आधा-अधूरा अपना साधन-सामान लेकर जीवन चलाने वाले थे।

बचपन से ही हृदयनाथ और विचारनाथ के परिवारों के बीच केवल सामाजिक सरोकार ही नहीं, बल्कि जीवनगत सरोकार भी बना हुआ था। इसी कारण दोनों अलग-अलग जातियों के होते हुए भी, खान-पान, घूमना-फिरना और जीवन के अनेक संबंध दोनों परिवारों के बीच बने रहने से हृदयनाथ और विचारनाथ के बीच बचपन से ही प्रेमपूर्ण संबंध बना रहा। आर्थिक समस्या दोनों के जीवन में कभी नहीं आई। सामान्य कॉलेज की पढ़ाई पूरी कर जब दोनों ने अपनी-अपनी तकनीकी पढ़ाई की ओर बढ़ने का विचार किया, तब अपने परिवार और समाज को यह बात बता देना हृदयनाथ और विचारनाथ, दोनों ने उचित समझा।

हृदयनाथ और विचारनाथ अपने-अपने पिता के साथ गाँव के पाँच गणमान्य व्यक्तियों की बैठक में अपने-अपने विचार रखने का निर्णय कर चुके थे।

संयोग बना कि हृदयनाथ के पिता विवेक चाचा और विचारनाथ के पिता कर्मलाल चाचा के साथ गाँव के तीन लोगों में मैं भी था।

विचार-विमर्श शुरू होने से पहले जब मैंने ध्यान से बैठक को देखा, तब उस पंचवेदी में मैं सबसे कम उम्र का था। यों हृदयनाथ और विचारनाथ से चार-पाँच वर्ष बड़ा तो था ही। इसलिए अपना बोलना उचित समझकर मैंने कहा- "हृदय, आपने यह पंचवेदी क्यों बुलाई है?"

यों मैंने केवल हृदयनाथ का नाम लेकर संबोधित किया था, पर बैठक दोनों के लिए, यानी विचारनाथ के विचार से भी हुई थी।

हृदयनाथ बोले- "अब तक गाँव-गाँव में जो भी नई शिक्षा ग्रहण करने बाहर जाता था, वह केवल अपने परिवार के विचार से, यानी माता-पिता और सगे-संबंधियों के विचार से जाता था। इससे गाँव के अधिकांश लोग समझ भी नहीं पाते थे। इसलिए सबको बता देना उचित समझकर हमने यह बैठक की है।"

अपनी समझ से हृदयनाथ ने अपने मन का उद्गार व्यक्त किया, लेकिन मैं उसे पूरी तरह समझ नहीं सका। इतना ही समझा कि अब तक, चाहे वह दो आना हो या चार आना, यानी दस प्रतिशत हो या बीस-पच्चीस प्रतिशत, समाज में ऐसे विचार का काम हमेशा से रहा है। कुछ उदार व्यक्ति अवश्य होते आए हैं, जो दूसरे-तीसरे को, यानी अपनी जवाबदेही के भार से बाहर के व्यक्ति को भी सहयोग करते आए हैं। मैं असमंजस में पड़ा हुआ था। सामने कोई सीधा रास्ता दिखाई नहीं दे रहा था कि आगे कुछ बोलूँ। लेकिन जब पंचवेदी में सब बैठे थे, तब दूसरे-तीसरे को भी बोलने का अधिकार तो था ही। संयोग अच्छा बना। दीनानाथ भैया बोले- "हृदय और विचार, दोनों से एक साथ कहता हूँ कि जिस विचार से तुम लोगों ने बैठक की है, पहले उसे स्पष्ट करके सबको सुना दो।"

हृदयनाथ ने विचारनाथ की ओर देखा और विचारनाथ ने हृदयनाथ

की ओर। दोनों समाज के सामने नए बोलने वाले थे ही, इसलिए समाज के बीच मुँह उठाने में थोड़ी हिचकिचाहट हो रही थी। लेकिन दीनानाथ भैया के दोबारा टोकने पर हृदयनाथ बोले-

"अपने संबंध में तो बोल सकता हूँ, लेकिन जहाँ दो लोगों का प्रश्न है, वहाँ..."

हृदयनाथ के अपूर्ण विचार को पूरा करते हुए विचारनाथ बोले-

"हम दोनों ने बाहर जाकर पढ़ने का विचार किया है, इसलिए समाज को सारी बात बता देना चाहते हैं।"

दीनानाथ भैया ने मेरी ओर भी देखा और शंकर बाबा की ओर भी। यों बैठक में शंकर बाबा सबसे अधिक उम्र के और संबंध में भी सबसे बड़े थे। व्यक्ति, परिवार और समाज के बीच जो बाधा-रुकावट नए आए हुए बाल-बोध के लिए होती है, उसे ध्यान में रखकर शंकर बाबा बोले-

"हृदय और विचार, तुम दोनों से एक साथ कह रहा हूँ। समाज में कोई बेटा यदि आगे बढ़कर अच्छा कर्म करेगा, तो वह केवल उसका व्यक्तिगत नहीं, परिवार और समाज का भी होगा। अच्छा किया कि जाने से पहले, यानी कुछ करने से पहले, समाज को बता दिया। यह जिम्मेदार व्यक्ति की तरह काम की जिम्मेदारी लेना हुआ। तुम दोनों इसे मन से ध्यान में रखना।"

समय बीता। हृदयनाथ डॉक्टर और विचारनाथ इंजीनियर बन गए। इक्के-दुक्के गाँव-समाज में डॉक्टर-इंजीनियर होने से देश की जरूरत पूरी तरह तो पूरी नहीं हो रही थी, लेकिन आंशिक रूप में पूर्ति तो हो ही रही थी। दोनों को सरकारी सेवा में जगह मिल गई।

अब तक हृदयनाथ और विचारनाथ का जो जीवन रहा, उसमें तनिक भी अतृप्ति का अंश नहीं रहा। इससे वे जीवन के प्रति आस्थावान हो गए। दोनों का मन तृप्त था। यों डॉक्टरी पेशे में सरकारी सेवा के

अतिरिक्त भी सेवा करने का अवसर हृदयनाथ को मिलता था, उसी तरह इंजीनियरिंग के क्षेत्र में विचारनाथ को भी ऐसा अवसर मिलता था। लेकिन दोनों ने उसे उपार्जन का स्रोत नहीं बनाया, सेवा का स्रोत बनाकर काम करने लगे। जो मासिक वेतन मिलता था, उसी को अपनी कमाई समझकर अपना परिवार चलाने लगे।

सेवा का कोई भी पद क्यों न हो, उसका वेतन जीवन-निर्वाह के अनुकूल निर्धारित होता है। जब बँधी हुई आमदनी में जीवन चलाया जाता है, तब जीवन भी अनुशासित हो जाता है। ऐसा ही दोनों के साथ हुआ। दूसरों की तरह नहीं कि उचित से अधिक भी अनुचित ढंग से कमाएँगे और खर्च भी करेंगे, तब जीवन भटक जाता है। लेकिन इन दोनों के साथ ऐसा नहीं हुआ। अपना-अपना प्रभाव, यानी जीवन का प्रभाव, जैसे हृदयनाथ के परिवार पर पड़ा, वैसे ही विचारनाथ के परिवार पर भी पड़ा। इससे संतान ने संतुलित जीवन अपनाकर अपना-अपना जीवन खड़ा कर लिया।

सेवा-निवृत्ति के बाद दोनों गाँव आकर गाँव के समाज को परखने लगे। मिट्टी-पानी के प्रत्यक्ष बोध से दूर रहने के कारण दोनों ने गाँव को उस तरह नहीं परखा, पर समाज-अध्ययन के विद्यार्थी होने के कारण समाज को अवश्य परखा। गाँव की परख तो तब होती, जब गाँव की मिट्टी-पानी का बोध रहता। वह तो था नहीं। यों हाल-चाल के क्रम में गाँव का संबोधन हो ही जाता है, जिससे लोगों को इतना घाटा तो होता ही है कि कैसी मिट्टी-पानी पर कैसे फूल-फल और अन्न-पानी की लहक लहलहाती है, यह समझने में वे उलझ जाते हैं।

अपराह्न के चार बजे का समय था। यह दिन का अपराह्न नहीं, जीवन का अपराह्न था। जीवन ने मानो अमरत्व प्राप्त कर लिया था, जबकि दिन-रात का समय, अमरत्व प्राप्त करने के बाद भी, जीवन-मृत्यु के चक्कर में पड़ा हुआ है। इसलिए दिन ढलते ही सूर्य का प्रकाश भी

क्षीण हो रहा था। दरवाजे पर बैठे डॉ. हृदयनाथ बोले-

"विचार भैया, छह-सात महीने के भीतर इतना अनुभव हो गया है कि समाज के लिए अपना कोई मोल नहीं रहा। कोई पूछने वाला नहीं। ऐसा लगता है जैसे शायद जीवन ही खटाई में पड़ गया।"

विस्मित होते हुए विचारनाथ बोले-

"मैं भी यही अनुभव कर रहा हूँ।"

हृदयनाथ बोले-

"गाँव का स्नेह क्या हुआ?"

विचारनाथ बोले-

"यही तो समझ नहीं पा रहा हूँ।"

हृदयनाथ बोले-

"तब?"

विचारनाथ बोले-

"वह तो भविष्य कहिए या भवितव्य, उसी में निहित हो गया है।"❑

कर्ज

☰

अनन्तपुरा एक गाँव है। गाँव न बहुत पुराना है, न बहुत नया। कुछ नहीं तो हजार-ग्यारह सौ वर्ष पुराना तो है ही। पिछड़ा हुआ गाँव होने के कारण लोगों के घर पचास वर्ष से अधिक पुराने तो नहीं हैं, लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे बिल्कुल नए-नए हैं। इसलिए यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि घरों की तरह घराड़ी भी नए-धब्ब, यानी पचास वर्ष के भीतर की ही है। सौ-सवा सौ वर्ष पहले अंग्रेजी शासन के समय जमीन के साथ घर-घराड़ी का जो सर्वे हुआ था, उसके अनुसार पचास से अधिक लोगों के घर भी थे और घराड़ी भी थी ही। खैर, जो था सो था, लेकिन तीन-चार सौ वर्ष पुराने दो पोखर और डेढ़ सौ वर्ष पुराने लगभग पचास आम और शीशम के पेड़ नहीं हैं, ऐसा भी नहीं है। वे भी हैं। इसी गाँव में, यानी अनन्तपुर में, रामरतन भैया और मधुसूदन भैया भी हैं। यों दोनों की उम्र अस्सी वर्ष से ऊपर है, लेकिन सामाजिक संबंध से दोनों भैयारी की सीमा में ही आते हैं, इसलिए उन्हें भाई ही कहता हूँ। यों दोनों ऐसी अवस्था में, यानी परिवार की सीढ़ी के अनुसार चौथी-पाँचवीं पीढ़ी तक ऊपर चढ़ गए हैं, पर वह अपने परिवार के बीच है।

पिछली शताब्दी के छठे से नौवें दशक तक, यानी 1960 ईस्वी से 1990 ईस्वी तक, सूदखोरी-महाजनी के विरोध में समाज में विद्रोह हुआ। गाँव-गाँव में विवाद शुरू हुआ। उसी क्रम में अनन्तपुर में भी विद्रोह हुआ। उस समय रामरतन भैया और मधुसूदन भैया हाई स्कूल में पढ़ते

थे। यों हर व्यक्ति पर एक ही तरह कर्ज का बोझ नहीं था, लेकिन कमोबेश पचानबे-छियानबे प्रतिशत कहिए या पंद्रह-साढ़े पंद्रह आना कहिए, जैसे गरीब आदमी का नाम बिगाड़कर, काट-छाँटकर छोटा कर दिया जाता है और कहीं-कहीं उसका रूप भी बदल दिया जाता है, यानी जैसे योगेश्वर कृष्ण का रूप बिगड़कर किसुनमा हो जाता है, वैसे ही अनन्तपुर गाँव का नाम भी चारों ओर के गाँवों के बीच ऋणखौका गाँव के रूप में प्रसिद्ध हो गया। इससे यदि गाँव के लोग या आसपास के गाँवों के लोग एक-दूसरे को ऋणखौआ गाँव का आदमी कहते, तो भी लोगों को तनिक भी ग्लानि नहीं होती थी।

गाँव के लोगों ने हवा का रुख पकड़कर, अपने गाँव के नाम के साथ अपने जीवन की दशा को भी पहचानकर सूदखोरी-महाजनी के बीच विद्रोह का बिगुल फूँका। यों विधिवत, यानी कानूनी रूप में, महाजनी समझौते का यह रूप बना कि कर्ज कितना भी पुराना क्यों न हो, वह मूलधन से दूना से अधिक नहीं होगा। अब तक सूद पर सूद का चलन था, उसे रोक दिया गया। अनन्तपुर के लोग भी एकमुख होकर उठ खड़े हुए। सर्वसम्मति से, यानी गाँव के बीच निर्णय हुआ कि जो कानूनी प्रक्रिया है, उसी के अनुकूल हम लोग अपना कदम उठाएँगे।

जीवन में पहली बार समाज का सर्वसम्मत निर्णय रामरतन भैया और मधुसूदन भैया की उपस्थिति में हुआ। मतलब, गाँव की बैठक में रामरतन भैया और मधुसूदन भैया भी थे। यों बाल-मन पर पड़ी कल्याण की दिशा भविष्य को भी निर्देशित करती है, पर उसमें परिवेश बाधक और साधक, दोनों होता है।

विद्रोह का फल हुआ ही। कुछ लोग जेल भी गए, कुछ लोगों ने मार भी खाई और कुछ लोगों ने मूँछ पर मिट्टी का तेल लगाते हुए अधिक-से-अधिक लाभ भी उठा लिया। गाँव की ऐसी स्थिति बन गई थी कि बिना कर्ज के जीवन की गाड़ी खिसकना कठिन था।

पारिवारिक जीवन की गाड़ी चलाने की सामाजिक पद्धति भी होती ही है, जिसके अनुकूल समाज अपने जीवन-रथ को चलाना चाहता है। इससे देखा-देखी समाज की गाड़ी भी दिशा पकड़कर चलती है। हमारे यहाँ समाज में धर्मानुकूल पर्व-त्योहार का चलन आरंभ से आता रहा है। आज का परिवेश भले ही दो-मुँहा, तीन-मुँहा क्यों न बन गया हो, जहाँ उसी मुँह से साल-दर-साल दुर्गापूजा में बमबारी के साथ रावण-वध होता है और फिर अगले साल वही रावण उठ-उठकर खड़ा भी हो जाता है। भैया, जब रावण मर गया तो समाज में रामराज्य की पद्धति ही चलनी चाहिए। या फिर राम-नाम की लूट है, जो लूट सके वह लूट ले, नहीं तो बाद में पछताएगा कि रोहू मछली बंसी तोड़कर पोखर में भाग गई।

साल भर के भीतर जो पर्व हैं, उनका विधि-विधान कैसा है, यह भी देखना पड़ेगा। देखते ही हैं कि कार्तिक मास पर्वों के समागम का महीना है। एक पूर्णिमा, यानी कार्तिक पूर्णिमा, गंगा से कोसी-कमला होते हुए पोखर-इनार तक फैली हुई है। उसी तरह छठ पर्व है, जो गाँव के बीच रहने वाले उन धरती-पुत्रों से जुड़ा है, जो आज भी साँझ के अर्घ्य में नए सूर्य के पथ का आह्वान करते हैं। लेकिन क्या यह भी झूठ नहीं है कि किसान का पर्व नौकरी करने वालों के घर-आँगन और कारखाने तक चला गया? खैर, यहाँ वह बात नहीं, बस इतना कि धर्म के बंधन का रूप पकड़कर गाँव के संपन्न लोग सूद-सवाई, डेढ़िया या उससे भी ऊपर मनमाने सूद का चलन भी चलाते रहे। अभी वह बात नहीं, अभी इतना ही कि समाज की दिशा देखकर रामरतन भैया और मधुसूदन भैया ने अपनी जिंदगी की दिशा में मोड़ लाया। मोड़ पर मुड़ते ही जैसे जिंदगी का रास्ता भी दिखाई देने लगा। साथ-साथ दोनों ने बी.ए. तक शिक्षा भी प्राप्त की।

रामरतन भैया ने अपना जीवन किसान के रूप में खड़ा किया और मधुसूदन भैया ने सरकारी नौकरी से अपना जीवन शुरू किया। दोनों ने

अपना-अपना जीवन ईमानदारी से निभाया। उसका फल यह हुआ कि दोनों अपने-अपने परिवार में सबके मन-पटल पर अपना स्थान बनाकर सबके बीच बसे हुए हैं।

जेठ मास था। अपराह्न के पाँच बजे का समय। अपने जीवन के अनुकूल दोनों लोग, भोर के समय रामरतन भैया के यहाँ और साँझ के समय मधुसूदन भैया के यहाँ नियमित रूप से प्रतिदिन बैठते थे। वे अपनी जीवन-लीला, यानी निष्पक्ष होकर एक-दूसरे को देखते भी रहते थे और परिवार-समाज की लीला की छानबीन भी करते रहते थे। एक ही ईमानदार जीवन-पद्धति के अनुकूल, कहीं-कहीं हटकर और कहीं-कहीं सटकर जीवन चलता ही है।

संयोग बना कि आज रामरतन भैया अस्सी वर्ष पूर्ण कर इक्यासीवें वर्ष में प्रवेश कर रहे थे। इसलिए परिवारजनों ने बैठक का विशेष आयोजन किया था। समाज के लोगों ने दोनों से अपने-अपने अस्सी वर्षों के अनुभव पर चर्चा करने का विचार रखा और स्वयं श्रोता बनकर, दोनों कान खड़े किए हुए हिरण के बच्चे की तरह चौकन्ने होकर सुनने के लिए तैयार हो गए।

रामरतन भैया ने अपनी ओर से बात हटाते हुए मधुसूदन भैया से कहा- "मधुसूदन भैया, मैं तो हमेशा से आपको देखता आया हूँ, इसलिए अपने व्यक्तिगत रूप में नहीं, समाज के सामने बता दीजिए कि अपने माता-पिता से लेकर बेटा-बेटी तक के बीच की कड़ी को किस रूप में जोड़कर चलते रहे हैं।"

रामरतन भैया का प्रश्न सुनकर मधुसूदन भैया को जैसे आत्मचेतना हुई। चेतना होने का कारण यह था कि समाज के ऊपर बड़ा बोझ, आर्थिक भार, सिर पर चढ़ा हुआ है। समाज अपनी तस्वीर वहाँ भी देख रहा है, जहाँ वह लोगों के कोढ़-करेज को खुरच-खुरचकर खा रहा है। समाज भी तो समाज ही है। कहीं घोड़े की तरह सुनहरी पूँछ है, तो कहीं

बकरी की तरह पूँछ की जगह छोटी पुछड़ी बना रखी है। बार-बार उनके मन में उठने लगा कि जीवन की मूलभूत आवश्यकता में दान-दहेज नहीं है, फिर भी इसी काम में समाज अपने खेत-पथार स्वाहा करता जा रहा है। मधुसूदन भैया बोले-

"रामरतन भैया, हम दोनों ने गाँव के अस्सी साल बिताए। यों बाहर जाने पर मैं बहरबैया, यानी बाहर रहने वाला भी बना, लेकिन बालपन और वृद्धावस्था तो गाँव में ही बिताएँगे। इसलिए क्यों न अपना जीवनानुभव अपने समूचे समाज को दे ही दें।"

बैठक के बीच से विचार उठा- "अच्छा होगा कि दोनों लोग, और वह भी तब, जब अभी रामरतन बाबा का जन्मोत्सव मना रहे हैं, साथ-साथ अपनी-अपनी जीवन-गाथा सुनाएँ।"

'प्रेत चाहे अशौच' जैसी प्रशासनिक भाषा में बात को समेटते हुए मधुसूदन भैया बोले- "बैठक में सब परिवार-जैसे लोग ही बैठे हैं, इसलिए परिवार की तरह विचार-विमर्श भी हो।"

फिर सभा की ओर से प्रश्न उठा- "समय कम है, इसलिए केवल दो प्रश्नों पर विचार-विमर्श हो।"

मधुसूदन भैया ने पूछा- "कौन-से दो प्रश्न?"

पहला प्रश्न उठा-

"जब दोनों हाई स्कूल में पढ़ते थे और सामाजिक निर्णय से अपने जीवन को धार्मिक-नैतिक रास्ता पकड़ाकर अब तक जी रहे हैं, और दूसरा?"

रामरतन भैया और मधुसूदन भैया ने सिर हिलाकर स्वीकार किया। रामरतन भैया बोले-

"बाल-बच्चों के मन में और जितने प्रश्न हों, उन्हें वे धरोहर मानकर हृदय की तिजोरी में रख लें। आगे भी विचार-विमर्श होता रहेगा। अभी

दो प्रश्नों का उत्तर अपने घटित जीवन से देंगे।"

ध्वनिमत से स्वीकृति हुई। रामरतन भैया बोले- "जैसे सूदखोरी के विरुद्ध हमने कदम उठाया, वैसे ही विचार में भी कदम उठाया। वह यह कि जीवन में कर्ज नहीं लेंगे। समाज के बीच पैंच-पालट, यानी परस्पर सहयोग, भी हमारे इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है ही, उससे जीवन सँभाल लेंगे।"

रामरतन भैया के विचार को स्वीकार करते हुए मधुसूदन भैया बोले-

"यों अपनी जवानी के दिन अधिकतर सरकारी खजाने के पास रहे, लेकिन अनुचित एक पाई की आशा भी मन में नहीं रखी। पाँच संतानों को पढ़ाने-लिखाने से लेकर उनका विवाह करा देने तक अपना दायित्व पूरा किया।"

रामरतन भैया बोले- "मैंने भी अपने छह बाल-बच्चों को समय के अनुसार पढ़ाया-लिखाया और उनका विवाह भी कर ही दिया।"

बैठक की ओर से प्रश्न उठा-

"दान-दहेज के ऐसे परिवेश में बाल-बच्चों का विवाह-दान कैसे किया?"

विचार उठते ही विचार के अंतिम अक्षर की पूँछ पकड़कर रामरतन भैया बोले- "न बेटे के विवाह में एक पाई ली, न बेटी के विवाह में एक पाई दी।"

रामरतन भैया के विचार का समर्थन करते हुए मधुसूदन भैया बोले- "मेरा जीवन भी ऐसा ही रहा। यदि ऐसा नहीं रहता, तो अस्सी वर्ष की दोस्ती की भैयारी निभा लेना कोई खेल थोड़े है।" ❑

बहादुरी

☰

कृष्णपुर गाँव के रामशरण चाचा को आसपास के लोग चच्चा के नाम से जानते भी हैं और चच्चा ही कहते भी हैं। ऐसे चच्चा कहने वालों में वृद्ध बाबा भी हैं और बच्चे-पोते भी। यों जब रामशरण चाचा के विचार-विमर्श की बात समाज में उठती है, तब कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो कहते हैं कि रामशरण चाचा के विचार से भले ही विचार की पटरी न बैठे, पर जीवन की पटरी वैसी नहीं है, इसमें खटपट क्यों की जाए। उसी का फल समाज को मिला कि जैसे कहावत है, 'सिरुआ गया नीचे और मियाँ खोजता है ऊपर', वैसे ही जीवन भी धकियाते-धकियाते नदी के किनारे के खेत की तरह धँसते-धँसते चौर-चाँचर की ओर बढ़ गया है।

एक ही गाँव में रहते हुए भी रामशरण चाचा अपने जीवन में अधिकांश समय वागर धान की तरह समाज में बने रहते हैं। जैसे कहावत है कि अंग-भंग वाला आदमी अधिक अगलह, यानी अलग-सा होता है, वैसे ही रामशरण चाचा बचपन से रहे। यों अपने माप से वे साढ़े तीन हाथ के हैं, लेकिन दूसरों के माप से अढ़ाई हाथ से भी नीचे हैं। उसमें भी यदि भरा-पूरा शरीर रहता, तो कुछ सुहावने भी लगते, पर वैसा नहीं होने से जैसे वे अगलह हैं, उससे तनिक भी कम पनिगर, यानी कमजोर भी नहीं हैं।

रामशरण चाचा ने अपनी स्पष्ट धारणा बना रखी है कि समय के अनुकूल जीवन की कसौटी पर स्वयं को कसते हुए, अपने अच्छे-बुरे के

बीच से स्वयं को बीचधार पार कराते रहना चाहिए। ऐसे ही पार करना सभी चाहते हैं।

आरंभिक दौड़ में ही रामशरण चाचा, यानी जब हाई स्कूल में पढ़ते थे, तभी इतिहास में बुद्धदेव के जीवन-वृत्त से इतने प्रभावित हो गए कि उनके दिखाए रास्ते को पकड़कर अपने जीवन को स्थापित कर लिया।

अपने को स्थापित कर लेने के बाद जब रामशरण चाचा ने समाज की ओर देखा, तो उन्हें दुनिया अक्का वन की तरह दिखाई पड़ी। अक्का वन का अर्थ है तीते और मीठे, दोनों का मिला-जुला वन।

हाई स्कूल से आगे रामशरण चाचा नहीं बढ़ सके। यों आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी अवश्य थी कि वे बाहर के कॉलेज में जाकर पढ़ सकते थे। लेकिन हाई स्कूल में पढ़ी बुद्धदेव की जीवनचर्या ने उनके मन को इस तरह मोह लिया कि उन्होंने आगे पढ़ने के विचार से स्वयं को अलग कर लिया। तो क्या कहा जाए कि पढ़ाई से रामशरण चाचा का मन उचट गया?

"नहीं", पढ़ाई से रामशरण चाचा का मन नहीं उचटा। उचटा केवल इतना कि कोदो-मोदो अन्न, साग-पात-तरकारी और फूली-फली महकारी से अच्छा, न उपजाना ही अच्छा है। इसलिए उन्होंने दूसरे सभी विषयों की पुस्तकें अलमारी में रख दीं और बुद्ध-दर्शन के पीछे लग गए। मानो रामशरण चाचा को अपने जीवन का दर्शन स्वयं मिल गया। जीवन-दर्शन मिलने पर उन्होंने देख-परख लिया कि अपने जीवन और सामाजिक जीवन के बीच कहाँ-कहाँ मेल है और कहाँ-कहाँ बेमेल है। साथ ही, मेल है तो किस रूप का और बेमेल है तो किस रूप का, इसे अच्छी तरह छाँटकर पकड़ लिया। जीवन की बारीकी का बोध होते ही रामशरण चाचा आज के मनुष्य के रूप में स्वयं को गढ़ने में लग गए।

दर्जनों बार बुद्धदेव का चरित्र पढ़ने से रामशरण चाचा के भीतर

उसे अपने जीवन में उतारने की अद्भुत शक्ति जाग गई। जागते ही मन ने मान लिया कि सबसे पहले अपने जीवन की सीमा को पकड़ना है।

यों समाज, परिवार और परिवार के भीतर व्यक्ति का जीवन भी ऐसा लेभरान-लेभराया हुआ है कि चिह्न-पहचान एक साथ मिलकर मिट-से गए हैं। जैसे कार्बन कागज में काला रंग हो या लाल रंग की परत चढ़ी हो, फिर भी उसमें से अक्षर निखारने वाला अक्षर निखार ही लेता है, वैसे ही रामशरण चाचा ने अपने जीवन-दर्शन के अक्षर समाज में निखार लिए हैं।

यों बुद्ध-दर्शन के अध्ययन के क्रम में बहुत-सी नई-नई वस्तुएँ और विचार भी रामशरण चाचा की दृष्टि में आए, लेकिन उन सबको किनारे करते हुए वे उस प्रेमी की तरह आगे बढ़े, जो हजारों की भीड़ में खोई हुई प्रेमिका को पकड़ लेता है और बाकी सबको आँखों से ओझल कर देता है। उसी तरह रामशरण चाचा का बुद्धदेव के उस दर्शन से साक्षात्कार हुआ, जिसमें जीवन के जीर्ण-शीर्ण मनुष्य की सेवा का शरण-स्थल मिला। वह स्थल उन्हें इस रूप में दिखाई पड़ा जैसे जीवन में दूसरा कोई दर्शन बचा ही न हो। जब कभी वे बुद्धदेव का चरित्र-चित्रण पढ़ने लगते, तब उनकी दृष्टि शुरू से वहाँ तक नहीं अटकती, जहाँ वह दर्शन, यानी जीर्ण-शीर्ण जीवन की सेवा, दिखाई नहीं पड़ता।

संपन्न परिवार में रहते हुए भी रामशरण चाचा अपने को संपन्न नहीं समझते रहे। वास्तविकता भी यही है कि कोई आर्थिक संपन्नता को अपनी मूल संपन्नता समझता है, पर रामशरण चाचा धन-संपत्ति को जीवन जीने का केवल एक साधन समझते हैं। जीवन की संपन्नता वे उसमें समझते हैं, जिसमें अधिक-से-अधिक मनुष्यों की भलाई छिपी हो। दूसरों की भलाई को अपनी जीवन-वृत्ति बनाकर रामशरण चाचा ने समाज के बीच अपनी पहचान स्थापित कर ली है।

पढ़ाई छोड़ने के बाद, यानी मैट्रिक पास करने के बाद, रामशरण

चाचा का मन जैसे विश्वास से भर गया। उसी विश्वास से उन्होंने पिता से, यानी सोहन बाबा से कहा-

"बाबू, आपने अकूत संपत्ति अर्जित कर ली है। संपत्ति अर्जित करने का ढंग जानते हैं। मैं यह नहीं कहूँगा कि उसका उपयोग करना नहीं जानते, लेकिन मन इतना तो मान ही रहा है कि अर्जन के साथ यदि उसका उपयोग भी होता, तो इतनी संपत्ति जमा नहीं होती।"

रामशरण चाचा का विचार सोहन बाबा समझ गए। दूसरे सवाल-जवाब खड़े किए बिना बोले-

"अपने यहाँ चाणक्य बाबा हुए हैं। उन्होंने अपने अमृत शब्दों से समाज को सुनाकर समझा दिया है कि पुत्र यदि कुपुत्र हो, तब अपनी अर्जित संपत्ति का क्या होगा? और यदि सुपुत्र होगा, तो वह अपनी आशा छोड़कर दूसरे की आशा पर थोड़े खड़ा होगा। माता-पिता का बेटा-बेटी के प्रति जो धर्म-सूत्र का बंधन बना है, उससे मैं पाक-साफ हूँ। इसलिए वंश का अगला बाँस तुम ही न होगे।"

रामशरण चाचा के मन में बुद्ध-दर्शन इस तरह बैठ गया था कि मन में हमेशा उसी तरह झुनझुनी उठती रहती थी, जैसे चर्मरोग से ग्रस्त रोगी को खुजलाहट उठती रहती है। झुनझुनाते मन से रामशरण चाचा बोले-

"पिताजी! संपत्ति को मैं पानी में नहीं फेंकूँगा, लेकिन उसका जो उपयोग है, वह अवश्य करूँगा।"

सीधे-सच्चे विचार के सोहन बाबा थे ही, आगे-पीछे सोचते भी क्यों। सुपुर्द करते हुए, यानी हस्तगत कराते हुए, खुश मन से हँसते हुए बोले-

"उसमें तुम्हें कोई रोक नहीं है।"

रामशरण चाचा का मन उद्विग्न था ही। उनके मन में यह क्यों आता

कि इसी संपत्ति के लिए बाप-बेटे के बीच फाँसी चढ़ाने तक की नौबत आती है। अपने शरीर-रूपी संपत्ति को रामशरण चाचा ने सुकर्म के समुद्र में नाव की तरह बहा दिया। जीवन का सूत्र बनाकर अपनी संपत्ति, यानी धन, का परिवार में समुचित उपयोग करते हुए बाकी को समाज के उस दीन-हीन जीवन में समर्पित कर दिया, जिससे कितने ही बाल-बोध बच्चों को बोध मिला और मृत्यु के मुँह में फँसे कितने ही रोगी रोगमुक्त होकर समाज में खड़े हो गए।

रामशरण चाचा का अपना दृष्टिकोण है। वह यह कि उनके पास धनकुबेर जैसी संपत्ति तो नहीं है, जिससे सबकी आवश्यकता, यानी बच्चों को पढ़ाना, भूखे का पेट भरना, दुखियों का इलाज कराना आदि संभव हो सके। लेकिन इतना तो संभव है कि कुछ लोगों की, यानी आधे में भी आधे लोगों की सेवा अवश्य होगी। जैसे समय का सदुपयोग करने के लिए भले ही सोलह आने समय न मिले, पर आधे में भी आधा तो मिल ही जाता है। जितना मिलता है, यदि उतने का भी समुचित उपयोग हो, तो कुछ-न-कुछ सुफल अवश्य मिलेगा।

रामशरण चाचा को अपने कर्म के अनुभव ने मन से इतना मजबूत बना दिया है कि वे अपने और दूसरे के बच्चे में जैसे भेद नहीं समझते, वैसे ही दूसरे परिवार को पराया भी नहीं समझते। जैसे माता-पिता की सेवा के लिए द्वापर युग में श्रवणकुमार अपने कंधे पर भार उठाकर अंधे माता-पिता को सातों धाम का दर्शन कराने का व्रत लेकर आगे बढ़े थे, वैसे ही रामशरण चाचा ने भी कलयुग के बाल-बोध से लेकर सयाने तक के जीवन के बीच अपना जीवन बनाकर दत्तचित्त होकर सेवा का जीवन आराध लिया।

रामशरण चाचा के त्याग और सेवा की केवल चर्चा ही नहीं, समाज में वह विचारणीय धारा समाज-निर्माण की कला बनकर कलाकारों के बीच नाच रही है। समाज का जनमानस यह मान ही रहा है कि रामशरण

चाचा अपने कर्म की बहादुरी से समाज के बहादुर बेटे बन गए हैं।

सूर्य के प्रकाश-पुंज की तरह रामशरण चाचा का कर्म-पुंज बीस कोस तक फैला हुआ है। यों समाज में जिस दिन रामशरण चाचा ने पहला कदम उठाया, उसी दिन से उन्हें समय के अनुसार परिवेश का सामना करना पड़ा। विचार की धारणा के अनुसार कुछ लोगों के मन में ऐसा परिवेश बना हुआ है कि अन्न के बिना भूखे मर जाना अच्छा है, पर भिखमंगे की तरह हाथ नहीं फैलाना है। इस धारणा का मूल भी यही है कि अपने हाथ-पैर को इतना आत्मनिर्भर बनाकर रखा जाए कि दूसरे के सामने हाथ फैलाने की आवश्यकता न पड़े।

परिवेश को, यानी समाज की जो धारणा मौजूद है, उसे रामशरण चाचा ने समुचित ढंग से सँवारा। अपनी सेवा को भिखमंगे की भीख की तरह नहीं बढ़ाया। उनके मन में कभी यह बात नहीं आई कि रोटी के एक टुकड़े से भूख मिटेगी। वह तब मिटेगी जब जीवन का एक टुकड़ा मिलेगा। उन्होंने सेवा को दूसरे रूप में बढ़ाया। वह रूप यह है कि सेवा पाने वाला स्वयं स्वस्थ होकर सेवाकर्ता बन जाए। मतलब यह कि जिस धन से रामशरण चाचा ने दानस्वरूप सहायता की, उसे वे फिर स्वयं क्यों लेंगे। सबको मालूम है कि धर्म करने से धन नहीं घटता, तो रामशरण चाचा का ही क्यों घटता। इसलिए यह कहना भी ठीक नहीं कि समाज में सभी रामशरण चाचा जैसे बन गए हैं। देखते ही हैं कि जीवन की मूल आवश्यकताएँ भोजन, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य और शिक्षा हैं, लेकिन क्या उससे भी बड़ी आवश्यकता बेटी के विवाह का दहेज नहीं बन गया है, जो हर परिवार में घुस गया है। जैसे सब कुछ बदलता है, वैसे ही समाजशास्त्र भी यदि बदल जाए, तो इसमें अनुचित क्या होगा। ❑

हमारी भी आवश्यकता है

☰

मिथिला के मध्य बसा करपुरिया गाँव ऐसा है, जैसे एक-दो बीघा या पाँच-दस बीघे की गाछी-कलम के बीच कहीं एकाध करपुरिया आम का पेड़ भी रहता है। यों आम का स्वाद, गुण और फल एक रंग का नहीं होता, लेकिन नाम-गुण तो करपुरिया कहलाता ही है।

एक रंग कैसे होगा? स्वाद की दृष्टि से कलमी आम भी करपुरिया होता है और सढ़ी आम भी करपुरिया तो होती ही है। यह समझी हुई बात है कि आम-जामुन का फल हमारे यहाँ जन्म देने वाला माना जाता है। फल खाकर जब गुठली फेंकते हैं, तो वह धरती पर पड़ते ही नया जन्म लेकर अपना अगला भाग, यानी वृक्षत्व, आकाश की ओर उठाती है और निचले भाग, यानी जड़त्व, को पाताल की ओर बढ़ाती है। खैर, यहाँ करपुरिया आम की चर्चा नहीं, बल्कि गाँव की चर्चा करनी है।

हजारों लोगों का सघन गाँव करपुरिया है ही, जिसमें दर्जनों तरह की जातियाँ, दर्जनों तरह के संप्रदाय, दर्जनों तरह की कद-काठी और दर्जनों तरह के जीवन भी हैं। समझी हुई बात है कि जैसा जीवन होता है, वैसा ही उसका खान-पान और कला-संस्कृति भी होती है। इसलिए कहेंगे कि जो मछली खाने वाला है, वह रोहू-नैनी भले न खाए, पर डेढ़वा-चेल्हवा जैसी छोटी मछलियाँ नहीं खा सकता, ऐसी बात नहीं है; वह तो खाता ही है।

करपुरिया गाँव में एक और नया व्यवहार चल पड़ा है। वह यह कि

एक ही परिवार में, यानी आठ-नौ लोगों के परिवार में, चार-पाँच तरह के नए व्यवहार पहले से चले आ रहे व्यवहारों में घुसते भी जा रहे हैं और साथ ही कितने ही नए-नए व्यवहार उठ-उठकर खड़े भी हो रहे हैं। शिक्षण-संस्थानों की जो शिक्षण-पद्धति है, वह जीवनोन्मुखी होते हुए भी संप्रदायोन्मुखी अधिक है। खैर, वह बात अभी नहीं। अभी बस इतना कि इसी करपुरिया गाँव में टीपू और सोमू के बीच दोस्ती चलती आई है, जिसकी आज पचासवीं सालगिरह है; उसी क्रम में कहना चाहता हूँ।

टीपू और सोमू के संबंध में सीधे यही समझिए कि करपुरिया गाँव में दोनों का जन्म हुआ। दोनों दो जातियों के हैं। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि टीपू का अर्थ हुआ टीपने वाला और सोमू का अर्थ हुआ सीधे मुँह बोलने और सीधे कान से सुनने वाला।

आसपास के गाँवों की तरह करपुरिया गाँव में भी हाई स्कूल तक शिक्षण-संस्थान है और पोस्ट ऑफिस के साथ बस अड्डा तो नहीं, लेकिन टेम्पो अड्डा भी है। दूसरे गाँवों का तो नहीं मालूम, लेकिन जैसे निर्मली के रजिस्ट्री ऑफिस का छप्पर है, वैसा ही करपुरिया गाँव के पोस्ट ऑफिस का छप्पर है, जिसका एक कोना भी उड़ चुका है। खैर, जो है सो है। अब लोग कुरियर से काम चलाएँगे या व्यर्थ ही पोस्ट ऑफिस के भरोसे रहेंगे? सार्वजनिक संस्था होते हुए भी पोस्ट ऑफिस को समय के अनुसार विकसित नहीं किया गया, जिससे वह सार्वजनिक संस्था अपना चेहरा सामने रख पाती।

टीपू और सोमू के बीच केवल चार-पाँच महीने का जेठ-छोट का अंतर था। दूसरे माता-पिता की तरह जागेसर, टीपू के पिता, और बाबूलाल, सोमू के पिता, गाँव के स्कूल में नाम लिखाने एक ही दिन पहुँचे।

अब तक जागेसर और बाबूलाल के बीच, दो जातियों के कारण जो दूरी थी, उसमें खिंचाव आया। दोनों की अपनी अज्ञानता, यानी

विद्यालय में प्रवेश न पाने की पीड़ा, बेटों के प्रवेश से मन में इतनी खुशी उपजा रही थी कि खुशी की उपज देखकर मन बाँट-बखरा करने की प्रेरणा दे रहा था। लेकिन सटे और हटे हुए संबंधों के बीच जो कंपन होता है, वह दोनों के मन को सिरसिरा भी रहा था। यों सिरसिराहट कितनी भी क्यों न रही हो, पर आत्मरूप पुत्र, 'आत्मा वै जायते पुत्रः', का स्नेह दोनों को इस तरह स्नेहासिक्त कर रहा था, जैसे उमड़ी हुई नदी की पलाड़ी छिटकती चलती है। बाबूलाल बोले- "जागे भैया, हम लोग जैसे भी हों, दोनों के बाप ही तो हुए। हम लोगों के आशीर्वाद से ही ये बच्चे भूतवाद से आगे बढ़कर वर्तमानवाद में अपना नाच-तमाशा करेंगे।"

कहा जा सकता है कि जिन बाबूलाल की आँखों ने विद्यालय का मुँह नहीं देखा था, उनके मन में ऐसा विचार कैसे जाग गया? वह यूँ ही नहीं जाग गया था। पढ़ना तो मौखिक भी होता है और लिखकर भी। लिखना थोड़ा भारी है; वह उनमें नहीं था, इसलिए वे खाता-बही नहीं उलटते थे। इसलिए वे शून्य का महत्त्व कम समझते थे, यह बात भी नहीं थी। एक तो वैसे भी पढ़े-लिखे लोगों जैसी भैंसा-कनारि बिना पढ़े-लिखे लोगों में कम होती है, जिससे बुद्धदेव की तरह विस्मृति अधिक होती है। जागेसर बोले- "भाई साहब, हम लोगों के आशीर्वाद से ही सबके बेटे-बेटी स्कूल की आँख देखेंगे।"

आह्लादित होते हुए बाबूलाल बोले-

"जागे भैया, हम लोग कितने दिन धरती पर, यानी इस दुनिया में रहेंगे। अब तो गाँव भी इन्हीं लोगों का हुआ और समाज भी इन्हीं लोगों का।"

समतल विचार या समतल रास्ते पर जैसे हल्के-से-हल्के और भारी-से-भारी वाहन आसानी से पार हो जाते हैं, वैसे ही जागेसर के मन में विचार उठा। लेकिन गाँव होते हुए भी जातीय या सामाजिक दूरी इतनी झलक रही थी कि दूरी रहने पर भी उसे पतियानी लगाकर पाटा तो जा

ही सकता है। जागेसर बोले- “भाई साहब, अच्छा हो कि हम दोनों अपने सामने ही इन दोनों बच्चों की दोस्ती करा दें।”

यों अपने समाज में दोस्ती की जगह भैयारी-संबंध भी पुराना रहा है। लेकिन उस ओर जागेसर की दृष्टि नहीं गई।

हँसते हुए बाबूलाल ने टीपू और सोमू, दोनों का हाथ पकड़ा और दोनों बच्चों को एक-दूसरे की छाती से जोड़ दिया।

एकटक दोनों को देखते हुए बाबूलाल ने टीपू की ओर से सोमू से पूछा- “बौआ, आज से यह तुम्हारा क्या हुआ?”

सोमू बोला- “मित्र।”

मैत्रेयी नरक का एक हिस्सा है, जिसे पार करने के लिए मित्रता की आवश्यकता होती है। जागेसर ने सोमू की ओर से टीपू से पूछा-

“बौआ, यह तुम्हारा क्या हुआ?”

टीपू ने तनकर उत्तर दिया- “सब हुआ। भाई भी हुआ, मित्र भी हुआ, दोस्त भी हुआ, संगी भी हुआ और जीवन को संजीवनी देने वाला हनुमान भी हुआ।”

टीपू की बात पर ऐसा ठहाका उठा कि आकाश तक पहुँच गया। आज पचासवें साल, अपनी निभी हुई दोस्ती को देखकर जैसे टीपू, वैसे ही सोमू मन-ही-मन अथाह समुद्र में मिली हुई थाह से अथाह की ओर आते हुए तृप्ति से भर रहे थे। उसी समय टीपू की पत्नी सुरैया को सुर चढ़ा और वह टीपू के सामने आकर गीत की तरह गाती हुई बोली-

“आज पचासवाँ...!”

पत्नी की बात कौए की काँव-काँव की तरह नहीं, बल्कि एकाग्र स्वर की तरह टीपू के मन में ठहर गई। यों तीन दिन पहले भी दोनों दोस्त आपस में विचार कर ही रहे थे कि परसों हमारी दोस्ती की पचासवीं सालगिरह है। विचार उठते ही टीपू उद्वेलित होकर सुरैया से बोले-

"कल का क्या भरोसा, अभी चलो। दोस्त को याद दिलाकर कहेंगे कि दोस्त, आज के परिवेश में ईमानदारी से पचास वर्ष की दोस्ती निभा लेना अपने-आप में जीवन की एक बड़ी उपलब्धि है, इसलिए बधाई।"

एक तो वैसे भी देखते हैं कि पुरुषों से अधिक महिलाएँ अब गाँव-गमैत से लेकर चौक-चौराहे तक जाने लगी हैं। इसका कारण भी है कि कारखाना, ऑफिस या खेत में पुरुष काम करते हैं और सोलह आने नहीं, पर चौदह आने बैठकी तो महिलाओं के पास रहती ही है।

दरवाजे पर बैठे सोमू अपनी पत्नी के साथ ठठाकर हँस रहे थे। इसी बीच थोड़ा अलग से टीपू खँखारने लगे, ताकि कम-से-कम दोस्त-महिमा की लाज तो दोनों रखें। खँखार सुनते ही सोमू ने सतभामा से कहा-

"अब इस दुनिया में एक दिन भी रहना पाप है।"

जैसे सोमू ठठाकर हँसते हुए बोले थे, वैसे ही सतभामा भी ठठाकर दमयंती की तरह बोली-

"किसी ने आपकी बाँह या टाँग पकड़कर रोक रखी है क्या?"

इसी बीच आगे बढ़कर टीपू बोले-

"दोस्त, बधाई के पात्र तो हम दोनों हुए। इसलिए आधी बधाई अपने पास रखता हूँ और आधी आपको देता हूँ।"

दूसरे परिवारों की तरह दोनों परिवारों का व्यवहार भी एक-सा था। अपने-अपने व्यवहार के अनुसार सब लोग एक जगह बैठकर बातचीत करने लगे। इसी बीच सुरैया ने अपना सुर तानकर सतभामा को टीप दिया-

"मैत्रेयी, जब मैं पास आकर खड़ी थी, तब भी आप दोनों ठठाकर हँस रहे थे। क्या मुझे भी सुदामा की तरह समझ लिया था?"

विचारों का भी अपना प्रवाह होता ही है। अपने पति की ओर

इशारा करते हुए सतभामा बोली-

“बहन, बुद्धदेव की तरह ये कहते हैं कि दुनिया में अच्छा नहीं लगता, इसलिए कहीं चले जाएँगे।”

सुरैया बोली-

“यशोधरा दीदी की तरह इन्हें छोड़ क्यों नहीं दिया? क्या कभी पूरे राज्य में ढोल बजवाकर यशोधरा दीदी ने कहा कि पति चोरी से घर से भाग गए, वे चोर हैं?”

दोनों महिलाओं के विचार को समेटते हुए टीपू ने सोमू से पूछा-

“दोस्त, दोस्तिनियाँ क्यों हँस रही हैं?”

सोमू बोले-

“मुँह से निकल पड़ा कि अब इस दुनिया में नहीं रहूँगा।”

टीपू बोले-

“बढ़िया विचार है। दुखना-दुख की तरह सारी कमाई को छुछुनर छू रहा है।”

सबकी ओर से जैसे स्पष्टीकरण देते हुए सोमू बोले-

“दोस्त, इस दुनिया को हमारी भी तो आवश्यकता है। यदि ऐसा नहीं है, तो जो काम हम लोग करते हैं, वह हुआ ही रहता क्या?”

सिर हिलाते हुए टीपू बोले-

“उचित ही तो है।” ❑

सपना

☰

माघ महीने की शाम तीन बजे का समय था। सरस्वती पूजा से तीन दिन पहले पाला-कुहासा से छँटा सूर्य-प्रकाश था, इसलिए वायुमंडल उल्लासपूर्ण था। परिवार का दुआर, दुनिया का सबसे छोटा अंश होते हुए भी, दुनिया का बीज बोने वाला भी है। यों वहाँ हम दो ही प्राणी थे, यानी मैं और रामलाल काका, लेकिन दुनियादारी की झौंखड़ी में इस तरह उलझे हुए थे कि अमटी के काँटे की तरह कहिए या चिड़चिड़ी घास की तरह, जिसे एक ओर से छोड़िए तो दूसरी ओर लग जाए और दूसरी ओर से छोड़िए तो तीसरी ओर लग जाए। लेकिन जीवन भी तो जीवन ही है। ऐसा जीवन भी है, जो बेंत के काँटेदार वन से बेंत काटकर लाता है और उसे भी जीवनोपयोगी वस्तु बना देता है।

मान लीजिए परसों दरभंगा जाना हो और आज ही, यानी दो दिन पहले, दरभंगा की जानकारी मिल जाए, तो उसी को आकाश-फल कहेंगे न। खेती-बारी की बातचीत का प्रसंग समाप्त हो गया था। समस्या उलझी ही रह गई। उलझन इस बिंदु पर थी कि 2022 ईस्वी तक किसान की आमदनी दुगुनी हो जाएगी, जिससे किसान इतना सक्षम हो जाएगा कि किसी कर्ज-वर्ज के झमेले में नहीं पड़ेगा। लेकिन दस किलो अनाज, जो मौलिक अधिकार है, उसमें गेहूँ कहाँ विलीन हो गया? क्या भोजन का व्यवहार जीवन पर प्रभाव नहीं डालता?

खेती का प्रसंग समाप्त हो गया था। मैं स्कूल-विद्यालय की ओर

विचार करने का मन बनाने लगा। इसी बीच रामलाल काका को नसवार लेने की तलब जागी। वे शीशी से हाथ पर नसवार झाड़ ही रहे थे कि तभी लक्ष्मण भैया हाँफते-फूलते पहुँच गए। अपने विचार को मन में समेटकर मैं लक्ष्मण भैया के मुँह की ओर देखने लगा कि वे क्या कहना चाह रहे हैं। रामलाल काका ने भी अपनी नाक में नसवार ली और मेरी ओर भी बढ़ा दी। कभी-कभार संकोचवश काका से नसवार ले लेता हूँ, लेकिन न अपनी आदत है और न दूसरों के लिए अपने यहाँ रखता हूँ।

लक्ष्मण भैया के मुँह का रुख देखकर हथेली पर रखी नसवार नाक तक नहीं ले जा रहा था। लक्ष्मण भैया खट-कर्मा आदमी हैं। नाक में नसवार लूँ और यदि उनके बोलने से पहले छींक आ जाए, तो वे मुँहफट आदमी हैं ही, तुरंत कह देंगे कि कैसा बुड़िवान अबण्ड है, जिसे न दिन का होश है, न समय का ठिकाना। बोलने से पहले ही छींक दिया। इसलिए नसवार नहीं ली। उधर रामलाल काका की आँखों की ओर देखूँ तो लगता था कि सावन के बादल की तरह कब हरहराकर बूँद छोड़ देंगे, इसका ठीक नहीं।

तभी लक्ष्मण भैया का मन भी जैसे बैठ गया। इससे मुझे थोड़ी शांति भी मिली। आगे बढ़कर मैंने कहा-

“भैया, चेहरा उदास दिखाई पड़ रहा है?”

बीच में रामलाल काका ने टोक दिया-

“उदास चेहरा ही तो दुनिया की उदासी देखकर दुनिया को छोड़कर एक ओर हो जाता है।”

सच कहता हूँ, मैं रामलाल काका का विचार ठीक से नहीं समझा, लेकिन लक्ष्मण भैया सुनने से अधिक समझ गए। बोले-

“काका, विपत्ति में पड़ गया हूँ!”

विपत्ति का नाम सुनकर मेरा मन भी विपतिया गया। आँखें जैसे

भीगने की तैयारी करने लगीं। लेकिन रामलाल काका, जितना मेरा अनुमान था, उससे कम सकपकाए। इसलिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे सोलह आने नहीं सकपकाए। बोले-

"लक्ष्मण, एक तुम ही ऐसे हो कि विपत्ति में पड़े हो और दुनिया के सब लोग निश्चिंत होकर सो रहे हैं, ऐसी बात नहीं है। धरती पर कोई ऐसा मिलेगा, जो कहे कि मैं विपत्ति में नहीं पड़ा हूँ? सबके पास जैसे अपना-अपना वरदान है, वैसे ही विपत्ति भी है।"

मुझसे रहा नहीं गया। न रामलाल काका के इशारे का तीर समझ पा रहा था, न लक्ष्मण भैया का। इतना तो समझता ही हूँ कि जैसे लक्ष्मण भैया त्रेतायुग के दशरथ-पुत्र लक्ष्मण से तीन गुना बीस हैं, यानी त्रेता से द्वापर होते हुए कलयुग के, वैसे ही रामलाल काका भी राम की तरह कहीं परब्रह्म बन जाते हैं, कहीं फाग-जोगीरा गाने लगते हैं और कहीं पेड़-पौधों से सीता का समाचार पूछने लगते हैं। लक्ष्मण भैया बोले-

"काका, भोर में चार पहर पर नींद टूट गई। तभी से मन कसमसाने लगा कि सबसे पहले रामलाल काका से मिलकर सब बात कहूँगा। लेकिन समझते ही हैं...।"

इशारे में लक्ष्मण भैया बोले और इशारे में रामलाल काका ने भी स्वीकृति के भाव से सिर हिला दिया। बीच में मैं कुछ समझ ही नहीं पाया। मन नहीं माना। मैंने कहा-

"लक्ष्मण भैया! कलयुग है, त्रेतायुग नहीं है, इसलिए तत्सम शैली कम कीजिए और जनशैली में कहिए कि किस विपत्ति में पड़े हैं?"

रामलाल काका को भी शतरंज की गोटी की तरह सह मिल गया। बोले-

"समझते हैं, क्या समझते हैं, यह कहाँ कहा?"

लक्ष्मण भैया को पिछड़ता देखकर मैंने कहा- "लक्ष्मण भैया,

अपना गाँव है, अपना समाज है, अपने ही सब लोग हैं, तब मन क्यों काँप रहा है?"

चाय पीने के बाद जैसे थके हुए मन की थकान कम होती है, वैसा ही लक्ष्मण भैया को मेरा विचार पीने के बाद हुआ। बोले-

"काका! आधी रात में सपना देखा। तभी से मन में उड़ी-बिड़ी लग गई कि रामलाल काका से विमर्श करना आवश्यक है। लेकिन सुबह जबसे उठा, तब से दो बजे दिन तक अपने दैनिक काम सँभालने में लग गया। इसलिए आना नहीं हो सका।"

लक्ष्मण भैया के विचार से रामलाल काका को जैसे संतोष मिला। वे बोले-

"यही तो काबिलियत है कि प्रतिदिन अपने जीवन के रास्ते-घाट को पहले सँभाल लो, बाद का काम बाद में होगा।"

लक्ष्मण भैया के मन ने मान लिया कि अधिक विलंब नहीं हुआ है। बोले-

"काका, हरिश्चंद्र की तरह मैंने सपना देखा कि अपना सब राज-पाट दान दे दिया। सपना देखकर जब नींद टूटी, तबसे मन में उड़ी-बिड़ी लग गई कि पहले काका से विचार करूँगा, तभी प्रायश्चित काट लेने के बाद फल पाए हुए आदमी की तरह मन हल्का होगा।"

पास में मैं भी बैठा ही था। लक्ष्मण भैया का विचार अनसोहना लगा। मैंने कहा-

"लक्ष्मण भैया, हरिश्चंद्र राजा थे। उनके पास राज-पाट था, उसकी चिंता आप भी कर रहे हैं। आपका कौन-सा राज-पाट चला गया कि इस तरह व्याकुल हो रहे हैं?"

यों रामलाल काका के मन में यह बात अवश्य उठी कि गाँव-समाज में देखते ही हैं कि लोगों के बीच ऐसी धारणा बनी हुई है कि यदि सपने

में भी कुछ दान कर दिया, तो उसका फल स्वर्ग में मिलेगा ही। लेकिन वे मन-ही-मन विचार को मन में घुमाते-फिराते रह गए, बोले कुछ नहीं। मुझसे नहीं रहा गया। मैंने कहा-

"आपको क्या लगता है, लक्ष्मण भैया, कि हम भी हरिश्चंद्र की तरह काशी के श्मशान घाट की रखवाली करेंगे? वह त्रेतायुग था, इसलिए हरिश्चंद्र को शोभा दिया कि उन्होंने अपना राज-पाट अपने सपने के तहत दान कर दिया। यदि आज की तरह कलयुग रहता, तो लोग कलाई पकड़कर पूछ ही लेते कि राज-पाट जनता का है या आपका अपना है? जब अपना नहीं है, तब आप दान करने वाले कौन? यदि राज-पाट नहीं रहेगा, तब समय-बेसमय, अवसर-अनवसर, संकट-विपत्ति में कौन किसका मददगार होगा?"

लक्ष्मण भैया का मन जैसे झुक गया। यह भाव रामलाल काका समझ गए और अपनी भाव-शक्ति को अध्यात्म-शक्ति से जोड़कर बोले-

"लक्ष्मण, अभी दुनिया में कितने लोग हैं?"

यों रामलाल काका का प्रश्न लक्ष्मण भैया के लिए ही था, लेकिन मुझे दो साल पहले तक यह मालूम था कि दुनिया में सात अरब लोग हैं। बीच में कोरोना और यूक्रेन युद्ध में कितने मरे और कितने मर रहे हैं, यह ठीक से नहीं जानता था। इसलिए अपने विचार को अपने मन में ही औंट-पौंट करने लगा कि देखना चाहिए, लक्ष्मण भैया क्या बोलते हैं।

लक्ष्मण भैया बोले-

"काका, आप दुनियादारी से कोई मतलब रखते हैं कि व्यर्थ ही दूसरों का हिसाब जोड़ने में दिन भर लगे रहें? अपने परिवार का इतना हिसाब फैला हुआ है कि उसी को जोड़ना कठिन पड़ रहा है।"

लक्ष्मण भैया के ऊपर जितनी पीड़ा लहरा रही थी, वह जैसे अचानक मोम जैसी बन गई। मोम जैसी बनने का कारण यह था कि अब

तक लक्ष्मण भैया का जो रूप था, जिस पर तामस चढ़ा हुआ था, जब उन्होंने अपने ही मुँह से अपने परिवार के हिसाब को अथाह स्वीकार कर लिया, तभी तो हृदय का ईमान चमक उठा। इससे मन मुलायम पड़ गया और वे मोमवत हो गए। मैंने कहा-

"काका! आप ही समाज के श्रेष्ठ व्यक्ति हुए। लक्ष्मण भैया तो साथ में हैं ही। आप जो विचार देंगे, वही हम सब शिरोधार्य करेंगे।"

अपना सम्मान सुनकर रामलाल काका बोले-

"दोनों से सम्मिलित स्वर में कहता हूँ। दुनिया में जितने लोग हैं, उतने सपने भी हैं। यदि ऐसा नहीं है, तो तुम ही कहो, एक का सपना दूसरे से मेल क्यों नहीं खाता?"

जैसे ही रामलाल काका ने कहा, वैसे ही मैंने अपने मन को अपनी जिंदगी की ओर दौड़ाया। समझ में आया कि दूसरों की क्या बात, जो मैं स्वयं प्रतिदिन देखता हूँ, यानी जो सपना देखता हूँ, वह भी एक जैसा दोहराकर नहीं देखता। तब दूसरा तो सहज ही दूसरा हुआ। मैंने कहा-

"क्या लक्ष्मण भैया, हमेशा गाँव में ही रहते हैं और इतना भी नहीं समझे कि गाँव के लोगों का मूल मंत्र है, 'सपना देखि रही मन मोइ, अप्पन देखी अनका होइ'।"

मेरा विचार अभी ठहरा भी नहीं था कि बीच में रामलाल काका भभककर हँस पड़े। उनकी हँसी देखकर मेरे मुँह से भी फूटकर हँसी निकलने लगी। ❑

साथ-साथ आए, साथी मर गया, मैं भुतियाया-सा रह गया

गंगा-ब्रह्मपुत्र के मैदानी क्षेत्र में प्रेमपुर भी एक गाँव है। यों गाँव तो गाँव ही होता है, दूसरे गाँवों जैसा ही। मतलब यह कि जैसे दूसरे गाँव हैं, जो कुछ लोगों के लिए अच्छे हैं तो कुछ लोगों के लिए बुरे भी। हम देखते हैं कि सोहनपुर गाँव में एक जमींदार परिवार है, जिसके सभी दियाद तीन-मंजिला से पाँच-मंजिला मकान तक बनवाए हुए हैं, लेकिन गाँव के बाकी लोगों में अधिकांश ऐसे हैं, जिनके पास इंदिरा आवास बनवाने लायक घराड़ी भी नहीं है। घर की तो बात ही क्या, घराड़ी तक नहीं है। और कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिनके पास अपनी घराड़ी भी है और चौघारा घर भी है। इसलिए यह कहना कि सभी गाँव सोहनपुर जैसे ही हैं, ठीक नहीं होगा। ऐसे गाँव भी हैं, जिनमें त्रेतायुगीन जनकपुर जैसी स्थिति रही होगी, जहाँ डोम का घर देखकर अयोध्या की बारात भ्रमित हो गई थी कि हम लोगों की बरभूमि, यानी बारात ठहराने की जगह कहाँ है। खैर, वह त्रेतायुग की बात हुई। अभी कलयुग है, मशीन का युग है। अब लोग खरही-बत्ती के मड़वे के साथ-साथ हवाई जहाज जैसे मड़वे में भी विवाह करते हैं। ऐसे में यदि आप कहेंगे कि सात बहनों के बीच एक बहन कोसी की बाढ़ सँभालने की शक्ति नहीं रखती, तब गाँव में विकास की खरही कैसे गाड़ेंगे।

प्रेमपुर ऐसा गाँव है, जहाँ पाँच वर्ष की अवस्था में श्याम और सुधीर

की दोस्ती गाँव के स्कूल में हुई। दोस्ती केवल इतनी नहीं हुई कि हम दोनों गौंआँ हैं और गाँव के स्कूल में पढ़ने के लिए प्रवेश लिए हैं। बात यह हुई कि आज से दोनों एक जीवन-पथ पकड़ने के विचार से आए हैं। आज से ही अक्षर का बोध होगा, यानी ज्ञान के साथ संबंध बनेगा, जिससे संकल्प के साथ अच्छा जीवन बनाने का व्रत भी लेंगे।

जैसे कोई व्यक्ति किसी गाँव-समाज के बीच अपने गाँव-समाज के कल्याण की दिशा में समय और परिवेश के अनुकूल चलने का व्रत लेकर चलने लगता है, जिससे समाज के साथ-साथ अपने भीतर भी गति आती है। गतिशील व्यक्ति के साथ समाज भी गतिमान होकर प्रवाहित होने लगता है, पर उसमें व्यवधान होता ही रहा है। उसमें दोष सबका है। यह कहना कि दोष केवल लोहे का है, लोहार का दोष नहीं, ठीक नहीं। और यदि यह कहें कि दोष लोहार का है, लोहे का दोष नहीं, तो यह भी ठीक नहीं; वह भी है। अपनी-अपनी सीमा में दोनों का दोष है। खैर, जो है सो है, लेकिन यह भूलना भी उचित नहीं होगा कि त्रेतायुग में हनुमानजी लंका से आम लाए थे। आम नहीं लाए थे, आम खाकर गुठली फेंकी थी। कलकतिया आम की गुठली कलकत्ता में गिरी, बंबई की गुठली बंबई में और मालदह की गुठली मालदह में। हम सब अपनी धरोहर की खोज करते हैं, तो यह भी खोजना पड़ेगा न कि हजारों वर्ष पहले से आते मालदह, सपेता आम या अन्य फलों का जो रूप-रंग-स्वाद था, उसमें और आज समाज के विकसित रूप के दृश्य में कितना परिशोधन और परिवर्धन हुआ है।

दूसरे गाँवों की अपेक्षा प्रेमपुर में एक और गुण है। वह यह कि जैसे दूसरे गाँवों में कुछ जाति-विशेष शासक-सदृश हैं और कुछ जातियाँ शासित जैसी हैं, वैसा प्रेमपुर में नहीं है। यों दूसरे गाँवों की अपेक्षा प्रेमपुर गाँव के समाज की बनावट भी कुछ भिन्न है। जैसे दूसरे गाँवों में एकाध जाति बहुसंख्य रूप में होती है, वैसा प्रेमपुर में नहीं है। न एकाध जाति

का वर्चस्व है, न एकाध जाति बहुसंख्य है और न अल्पसंख्य। दर्जनों ऐसी जातियाँ हैं जो हर तरह से बराबर-बराबर या ऊपर-ऊपर हैं, जिससे किसी खास जाति का दबदबा उतना नहीं है, जितना दूसरे गाँवों में होता है।

गाँव के स्कूल से लेकर कॉलेज तक, दोनों परिवारों के बीच, यानी श्याम और सुधीर के परिवारों के बीच, दोस्ती में वह प्रगाढ़ता नहीं आई थी, जो बाद में आई। अब तक, यानी विद्यार्थी जीवन तक, दोनों के बीच व्यक्तिगत संबंध बनता आया था। मतलब यह कि जैसे श्याम के परिवार में, वैसे ही सुधीर के परिवार में, पारिवारिक संबंध वैसा नहीं बन सका था जैसा दो परिवारों के बीच अत्यंत घनिष्ठ संबंध होता है। यानी रीति-रिवाज और लेन-देन का संबंध बन जाने के बाद जैसा होता है। अब तक श्याम और सुधीर के बीच केवल देहा-देही, यानी आमने-सामने का व्यक्तिगत संबंध ही बनता आया था।

पढ़ाई छोड़ने के बाद दोनों परिवारों के बीच संबंध में प्रगाढ़ता आई। परिवार की पीढ़ी भी बदली। अपने जीते-जी जैसे श्याम के पिता मनमोहन ने, वैसे ही सुधीर के पिता हरिवंश ने, दोनों ने अपने-अपने परिवार का भार बेटों को सौंप दिया। भार आने के बाद श्याम और सुधीर, दोनों ने अपनी दोस्ती में बढ़ोतरी की। बढ़ोतरी यह हुई कि अब तक, यानी विद्यार्थी जीवन तक, दोनों के बीच खान-पान, पैंच-उधार और किताब-कॉपी के लेन-देन तक जो संबंध समतल था, उसमें अचानक विस्तार हुआ। इससे दोनों परिवारों के बीच ऐसा संबंध बन गया, जैसा जीवन-मरण जैसा संबंध बन जाने पर होता है।

एक ही स्कूल-कॉलेज और एक ही शिक्षक से शिक्षा पाने के कारण दोनों के विचारों में भी एकरूपता थी। ताश के पत्तों की तरह विचारों में फेंट-फाँट न होने से विचार और व्यवहार, दोनों में एकरूपता बनी हुई थी। समाज के लोग इसे देख भी रहे थे और मानते भी थे कि केवल दोनों

व्यक्तियों का ही नहीं, दोनों परिवारों का संबंध भी ऐसा है, जो अटूट और अकाट्य बन गया है।

दूसरे गाँवों की तरह प्रेमपुर में भी सत्ता की हिलोर उठी। इससे अनेक तरह के नए-नए विचार आए और पुराने विचार ध्वस्त भी हुए। सामंती परिवेश के समाज में अर्थ, यानी धन-संपत्ति, की जो रूपरेखा दिखाई देती थी, उसमें बदलाव आया। पूँजीवादी व्यवस्था में अर्थ का रूप बदलने से समाज की रूपरेखा में भी बदलाव आता ही है। जगन्नाथपुरी समुद्र के किनारे स्थित है। वहाँ पुरी का दर्शन करने वाले, यानी जगन्नाथ स्थान के कृष्ण-बलराम-सुभद्रा के दर्शनार्थी, समुद्र के किनारे ढूसि स्नान भी करते हैं। ढूसि स्नान का अर्थ हुआ कि समुद्री लहर में बैठे-बैठे पानी के साथ कहीं-से-कहीं बह जाना और लहर जब शांत होकर पीछे हटे, तब अपने-आपको कहीं बालू पर बैठा हुआ पाना।

सत्ता की हिलोर उठने से दूसरे गाँवों की तरह प्रेमपुर का समाज भी राँय-बाँय होकर टूट गया। जहाँ एक-दूसरे में मधुर संबंध था, वहाँ सुबह से शाम तक गाली-गलौज और मार-पीट होने लगी। अब तक जो प्रेमपुर शांत गाँव था, उसने अशांति का रूप पकड़ लिया। जब गाली-गलौज और मार-पीट होगी, तब केस-फौजदारी भी होगी। केस-फौजदारी होगी, तब एक-दूसरे को नीचा दिखाने और नीचा करने के विचार से समाज के लोग एक-दूसरे के विरोध में तैयार हो ही जाते हैं। ऐसा ही परिवेश बनने के बाद श्याम और सुधीर के बीच का संबंध भी राँय-बाँय होकर टूट गया। यदि सीधा टूटता, तब कुछ दूसरा संबंध रह भी जाता, लेकिन वैसा नहीं हुआ। दोनों के बीच गाली-गलौज, मार-पीट और केस-फौजदारी भी हो गई।

दरवाजे पर एकांत में बैठा श्याम एकाग्र होकर अपने जीवनानुभव में उतर रहा था। तीनों तरह के, यानी पूर्ववर्ती, समकालीन और परवर्ती जीवन की समीक्षा कर रहा था। जेठ मास की झुलसाती लू की तरह

जीवन आँखों के सामने चमकने लगा।

जीवन का आधा भाग, यानी जैसे हमारे यहाँ अधिकांश लोगों के मन में यह धारणा बनी हुई है कि सौ वर्ष का जीवन होता है, बीत गया था। आधा शेष था, और आज उन्हीं दोनों के बीच की सीमा पर वह खड़ा था। अपनी सीमा मन में आते ही श्याम चौकन्ना हुआ। चौकन्ना होते ही उसके बाल-मित्र सुधीर पर दृष्टि गई। एकाएक हारे हुए मन की तरह श्याम का मन बीते जीवन में खो गया। मन में तनिक भी ठिकाना नहीं रहा कि जिस सुधीर के साथ अब तक के जीवन-संबंध का सारा खेल खेलते हुए आज की सीमा पर आ पहुँचा हूँ, उसी बीते जीवन और आने वाले जीवन के बीच महाभारत की लड़ाई की तरह दल-बल के साथ युद्ध होना अनिवार्य है। यानी ऐसा परिवेश बन गया है कि एक नारद या विदुर की कौन कहे, सैकड़ों नारद और विदुर एकतारा लेकर घूमते रहेंगे, तब भी लड़ाई होकर रहेगी। यह धरती की माँग है, इसे कोई रोक नहीं सकता।

लड़ाई में प्रवेश करने से पहले जैसे अर्जुन का मन काँप गया था, वैसे ही श्याम का मन भी काँप गया। काँपते हुए उसने पत्नी का नाम लेकर जोर से पुकारा-

“जरा जल्दी सामने आओ।”

पति की काँपती हुई स्वर-लहर सुनकर रीता थोड़ी दूरी से बोली-

“क्या कह रहे हैं?”

जैसे बाढ़ के पानी की लहर या हिलोर स्थिर पानी को भी लहरा या हिला देती है, वैसे ही श्याम के मन में अपने जीवन की दूसरी लहर आ गई। पत्नी के पास आते ही वह बोला-

“एक गिलास ठंडा पानी और एक गिलास गरम चाय जल्दी पिलाओ। मन उबिया रहा है।”

पति का विचार सुनकर रीता ने कुछ नहीं बोला। वह सीधे चाय-

पानी लाने के लिए आँगन की ओर बढ़ गई। बीच में उसके अपने मन ने कहा कि शायद सुधीर दोस्त याद आ गया है। दोस्त से बने दुश्मन के लिए संगी खोज रहे हैं, इसलिए मन अधीर हो गया है। मैं तो पत्नी हुई। उनका, यानी पति का जीवन ही तो मेरा भी जीवन है। जब तक हैं, पति के जीवन-संसार की सहभागी बनी हूँ। उनके परोक्ष होते ही चूड़ी और सिंदूर का मान भी दूसरों की तरह मेरा भी मर जाएगा।

घड़े की बहती धार की तरह श्याम का मन कॉलेज में पढ़े भूगोल के पन्नों में पहुँच गया। इसी बीच रीता पानी का गिलास सामने रखकर चाय लाने फिर आँगन की ओर बढ़ गई। पानी पीते ही श्याम के मन में भूगोल का वह पन्ना अपने-आप नाच उठा। नाच उठा यह कि दुनिया के बीच विषुवत रेखा है, जो जीवन की तरह बीच की सीमा है। दुनिया की तरह, यानी जैसे सत्य-असत्य, अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित आदि द्वंद्वों के बीच जीवन चलता है, वैसे ही प्रकृति भी चलती है। भले ही एक दूरी, यानी दोनों द्वंद्वों के बीच, होने से एक-सी उपज-बाड़ी और फल-कुफल एकरंगी हो जाए, लेकिन मौसम तो विपरीत हो ही जाता है। ❑

उवाणि

☰

पिछले साल कोरोना की हिलोर में बंगलोर की नौकरी छोड़कर गाँव चला आया। यों बंगलोर का सुख-भोग याद आता है, तो आज भी लगता है कि फिर चला जाऊँ। गाँव में कभी जेब में रुपयों की थैली नहीं देखता था; वहाँ जेब में रुपये रहने से मनमाना खाना-पीना था। समझी हुई बात है, ट्रांसपोर्ट की नौकरी, पैसे की बाढ़। खैर, जो है सो है। डर के कारण ही सही, नौकरी छोड़कर भागता हुआ गाँव आया, तो इतना तो हुआ ही न कि अपने भूले हुए गाँव का फिर से बाशिंदा बन गया।

कहेंगे कि गाँव छोड़कर बंगलोर क्यों गया? आपसे कहने में तनिक भी संकोच नहीं होता कि सत्य बात क्यों न कहूँ। जानते ही हैं कि बी.ए. करने के बाद दूसरे लोगों की तरह मैं भी सड़क पर भटकने-ढहने लगा। यों शुरू में इच्छा यही थी कि जब चार बीघा खेत है, यानी हजार रुपये कट्ठा के हिसाब से अस्सी हजार रुपये की अपनी पूँजी है, तब किसी की नौकरी करना स्वाभिमान पर चोट है। लेकिन मन के सारे विचार खटाई में पड़ गए। हुआ यह कि ऐसी बाढ़ आई कि खेत-पथार की उपज तो खाई ही, घर भी गिरा गई। खेत के बीचोबीच ऐसी नासी, यानी धारा की नाली, फोड़ दी कि जमीन की कीमत इतनी कम हो गई कि हाथ-पाँव ही गुम हो गए। अपनी इतनी औकात नहीं रही कि खेत को फिर पूर्वावस्था में ला सकता था।

हाथ में कोई काम नहीं रहने से सड़क पर भटकते हुए मन में आशा

का संचार हुआ। हुआ यह कि बैंक से साठ हजार का लोन जुट गया, जिससे मन मान गया कि पहले जैसी पूँजी हाथ में आ ही जाएगी, फिर कहीं नौकरी-चाकरी करने बाहर क्यों जाएँ। लोन मिला। लोन मिला चूड़ी का कारोबार करने के लिए। शुरू में समझ ही नहीं पाया कि अपने बूते चूड़ी बेचना संभव नहीं होगा। कारोबार ढनमना कर गिर पड़ा। बैंक का लोन, बच्चे पर बच्चे की तरह सूद जन्माने लगा। लोन एक लाख से ऊपर पहुँच गया। गाँव में कोई रास्ता न देखकर बंगलोर का रास्ता पकड़ लिया।

बंगलोर से गाँव आने के बाद मन में शांति का एक बड़ा रास्ता दिखाई पड़ा। झलक यह कि दुनिया जानती है, जिसने जन्म लिया है, वह मरेगा ही। जन्म गाँव में लिया और मरूँगा शहर में, यह कैसा होगा? मृत्यु के बाद जितने क्रिया-कर्म होते हैं, यानी लाश उठाने से लेकर श्मशान घाट पहुँचाने, लकड़ी काटने, चिता तैयार करने और सामूहिक रूप से जलाने तक, यह सब कौन करेगा? उसमें भी यदि उतना ही रहता, तो चलो भैया, हरिश्चंद्र की तरह मान लेते कि 'मरनो भलो विदेश में, जहाँ ने अपना कोय। माटी खाये जानवरा, महामहोत्सव होय।'

लेकिन केवल देह तक ही समस्या का निदान नहीं हुआ। यों मुर्दे को मिट्टी देने के अनेक विधान जाति-सम्प्रदाय में भी हैं। उसमें यदि कौए-कुत्ते खाकर उद्धार कर देंगे, तो कर दें। लेकिन तेरहवीं के कर्म और भोज से लेकर श्राद्ध-कर्म-भोज, अर्द्धमासी, मासी और बरसी के नह-केश और भोज कौन करेगा? यदि वह नहीं करेगा, तब व्यर्थ ही गाछी-बिरछी, यानी पेड़-पौधों के बीच, भूत की तरह भटकना पड़ेगा। जैसे ही वैसा होगा, ओझा-गुनी बड़-पीपल के पेड़ में लगाकर कील से ठोक देंगे।

खैर, इन सब बातों से अपने को अलग समझकर मन को मना लिया कि यह बाप-पुरखों का बनाया हुआ गाँव है, जिसकी आज की सीमा पर हम लोग ही खड़े हैं। इसलिए आज का भार हम लोगों के कंधे पर ही है न?

काम के व्यवहार में नहीं, पर विचार के स्तर पर बदलाव लाया। बदलाव यह लाया कि अपनी जो दस कट्ठा जमीन बची है, यानी नासी और नासी की बालू से भरी जमीन छोड़कर बाकी दस कट्ठा जमीन, जिसे बटाई पर लगाकर बंगलोर गया था, उसमें कुशियार की खेती करूँगा। बाप-दादा की अर्जित संपत्ति है। मन में नक्शा बनाया कि कुशियार जब तैयार होगा, यानी अपना दूसरा रूप बनने लायक कुशियार हो जाएगा, तब अपने हाथ से काटकर, रस निकालकर गुड़ बनाऊँगा और अपनी किसानी उपज को बाजार में पहुँचाऊँगा। यहाँ बाजार के दो रूप हैं, गाँव से बाहर और गाँव के भीतर। यह मन में क्यों उठता कि अब न गुड़ खाने वाले बतरसिया रोगी हैं और न आयुर्वेदिक वैद्यजी रहे, जो गुड़ की दवा बनाएँगे। इसलिए यह कहना भी ठीक नहीं कि छठ के ठेकुआ और दुरागमन के भुसबा में गुड़ पड़ना बंद हो गया है। खैर, जो है सो है। जीवन बदलने के कारण पढ़ने में भी बदलाव लाया। अब तक जो गुलशन नंदा के उपन्यास पढ़ने में लगा रहता था, उसे बदलकर खेती-बाड़ी की पुस्तकें पढ़नी शुरू कीं। दुनिया के अर्थशास्त्र की सांख्यिकी पढ़ने की मुझे क्या आवश्यकता है? कुछ हूँ तो मिथिला की मिट्टी में बसता हूँ, जो मिट्टी दुनिया में कहीं नहीं है। खरियाई या काली मिट्टी, जिसे हम कहते हैं, पंडाजी लोग नागडीह कहते हैं। वही मिट्टी तो हम लोगों की है।

गाँव आए दसवाँ महीना चल रहा है। अपनी पूँजी से कुशियार से गुड़ बनाने के बीच के जो औजार थे, वे खरीद लिए। उन्हें अपने-अपने ठौर पर रखकर काम से पहले तैयार कर लिया। खेत का कुशियार तैयार हो गया। कल से खेत की उपज को आगे बढ़ाकर कच्ची पूँजी से पकी हुई पूँजी की शुरुआत करूँगा।

समाज के पढ़े-लिखे लोग हम ही तो हुए। गाँव की उपजावारी से लेकर झगड़ा-झंझट का निपटारा भी हमीं करेंगे।

परसों से गाँव में एक झगड़ा फैला हुआ था। खुदरा-खुदरी, जाति-

जन और स्त्रियों के बीच उस झगड़े की पंचायती भी हो रही थी और मुद्दे को आगे बढ़ने से रोक-टोक भी हो ही रही थी।

संयोग बना, समाज के बीच पंचायती का समय तय हुआ। मेरे मन में भी था ही कि समाज की पंचायती में जाऊँ। भैया, चिड़िया की तरह आँख-पंख तभी होंगे, जब आँख खोलकर और पंख झाड़कर आगे बढ़ेंगे।

पंचायती बैठी। झखरी दादी और भुलिया काकी के बीच का झगड़ा था। हुआ यह कि भुलिया काकी झंझारपुर हाट गई थीं। रास्ते में एक मोटरसाइकिल वाला गिरकर मर गया। तरह-तरह की बातें रास्ते में और हाट पर उड़ रही थीं। भुलिया काकी ने सुना कि झखरी दादी के भतीजे, यानी मायके के भतीजे किसुनलाल की दुर्घटना में मृत्यु हो गई। परिचित आदमी की दुर्घटना होने पर मन अपने-आप उबिया ही जाता है। जल्दी-जल्दी सामान की खरीदारी कर भुलिया काकी हाट से विदा हुईं। गाँव की सीमा में पैर रखते ही उन्होंने कई लोगों के सामने कह दिया कि झखरी दादी का भतीजा मर गया।

यही झगड़े का सूत्रपात था। झखरी दादी के कान में जैसे ही बात पड़ी, उन्होंने मोबाइल से भतीजे से संपर्क किया। भतीजे से बातचीत करने के बाद झखरी दादी गेहुँअन साँप की तरह ऐसी फुफकार छोड़ने लगीं कि बात आज पंचायती तक पहुँच गई।

पंचायती बैठने के बाद जैसे ही बातचीत शुरू हुई, झखरी दादी और भुलिया काकी दोनों उठकर जोर-जोर से अपनी बात कहने लगीं। पहले झखरी दादी बोलीं- “ऐसी हराशंख स्त्री है कि जीवित भतीजे को मारकर मुर्दा बना दिया और प्रचार कर दिया!”

अपना पक्ष रखते हुए भुलिया काकी बोलीं- “क्या मैं उसे, झखरी दादी के भतीजे को, मुँह-कान से पहचानती हूँ? रास्ते में जो सुना, वही बोल दिया।”

मेरे मन में हुआ कि दोनों के बाल पकड़कर पहले दो-दो थप्पड़

लगा दूँ। कहिए, झगड़ा हुआ, उसकी पंचायती है, और जब पंचायती में भी झगड़ा ही होगा, तब पंचायती क्या हुई? लेकिन इतना अपने को चेताया कि अपने से न कुछ किया और न बोला। लाल भैया भी पंचायती में थे। मैं उनकी रुचि मानता हूँ। वही बोले-

"बौआ, गाँव का झगड़ा है। इसलिए पहले जड़ भँजिया लेनी पड़ेगी। देखते-सुनते हो कि कोई छोटी-सी बात होती है और सात पुरखों की गाली सुनवा देती है।"

पंचायती का रुख ही बदल गया। शोर-गुल होने लगा। व्यर्थ में दोनों ओर पंच बनने लगे। मैंने पूछा- "भैया, किस जड़ की बात कही?"

लाल भैया बोले- "पहले यह समझ लो कि जब किसी वस्तु या विचार को जड़ से समझे बिना काम करोगे या विचार करोगे, या बोलोगे, तब व्यर्थ ही उवाणि हो जाओगे।"

'उवाणि' शब्द समझने में मैं अटक गया। मैंने पूछा- "उवाणि क्या, भैया?"

लाल भैया बोले- "उवाणि का अर्थ हुआ किसी काम या विचार को गलत ढंग से करना या कहना। इसके विपरीत दूसरा शब्द है सुवाणि। अभी अधिक नहीं कहूँगा। इसके साथ कुवाणि भी है।"

लाल भैया के विचार से मन की जिज्ञासा बढ़ गई। भूखे बच्चे की तरह चेहरे का रंग हल्का, यानी फीका होने लगा, जिसे लाल भैया समझ गए। आगे बोले-

"अच्छा हुआ, अब गाँव आ ही गए हो। आगे भी बातचीत होती रहेगी। तुमसे भी कह देता हूँ कि कोई बात निश्चिंत होकर बोलो। किसी-न-किसी स्रोत से तुम्हें जानकारी होगी ही। उसे सुधार-सँवारकर सार्वजनिक करना। यही पंचायती समाज-निर्माण के कोठा-घर का बीच वाला मोटा पिलर है।"

मन मान गया। मैंने कहा- "भैया, आगे क्या कहने लगे थे?"

लाल भैया बोले-

“बौआ, कहने को बहुत बात है, लेकिन यहाँ केवल दो ही बात कहूँगा। पहली बात समझो, अभी जो इंदिरा आवास अनघोल मचाए हुए है, उसकी जड़ उस दिन रोपी गई थी, जिस दिन भूमिहीन लोग बासडीह की जमीन के लिए माथे पर कफन बाँधकर मार भी खाए, जेल भी गए, मार भी की और जेल भी काटी।”

लाल भैया का विचार सुनकर मन चौंक गया। मुँह से निकल पड़ा-

“अरे वाह!”

लाल भैया को जैसे सह मिल गया। वे बोले-

“अभी क्या देख रहे हो? एक ओर झखरी दादी हैं और दूसरी ओर भुलिया काकी। दोनों अपनी-अपनी सीमा पर खड़ी हैं।”

बीच में मुझसे बोला गया-

“हाँ, वह तो हैं ही।”

लाल भैया बोले-

“झखरी दादी अपने मुँह की टंकार से समाज पर हावी होना चाहती हैं, जबकि भुलिया काकी सोझमतिया, यानी सीधी-सादी स्त्री हैं। झूठ-फरेब की भीड़ में नहीं जातीं। तुम ही कहो, क्या होना चाहिए?”

❑❑❑
❑❑
❑

Notes

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....